वर्ष-२ अंक-१ जनवरी १९८६

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक

दार्शनिक षाणमासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

कुछ निवेदन

१. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार :

"यदि भारत ईश्वर के अन्वेषण में अविचल रहता है तो उसकी अमरता अक्षुण्ण है, किन्तु यदि वह इसे छोड़ कर राजनीति तथा सामाजिक संघर्ष का मार्ग अपनाता है तब उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है।"

हम समझते हैं कि महात्मा गांधी के जीवन को इस विचार का कार्यान्वियन कहा जा सकता है। किन्तु स्पष्टतः राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद भारत उस मार्ग का अनुसरण कर रहा है जिसे स्वामी जी ने उसके लिए नाश की ओर ले जाने वाला कहा है। यदि दर्शन के हम भारतीय विद्यार्थी इसके सत्यासत्य पर अपने सांप्रतिक अनुभव और सनातन परम्परा में समाधिस्थ होकर विचार कर सकें तो यह हमारे लिए एक बहुत सार्थक कर्म होगा।

उन्मीलन में इस पर लिखने के लिए आप सादर आमंत्रित हैं।

२. पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ को हम थोड़ा भिन्न प्रकार से आयोजित करना चाहते हैं : प्रथम, समीक्षक समीक्ष्य पुस्तक के प्रतिपाद्य को अध्यायशः प्रस्तुत कर उसका युक्ति-समर्थित मूल्यांकन करें। अनन्तर पुस्तक-लेखक उस पर अपनी प्रतिक्रिया लिखें। इसमें अन्य पाठक भी भाग ले सकते हैं।

३. पिछले अंक के सम्पादकीय पर कुछ प्रतिक्रियाएं हमें मिली हैं जो इस अंक में सम्पादक की टिप्पणी के साथ दी जा रही हैं। इन प्रश्नों पर और अधिक उग्र और गंभीर प्रतिक्रियाएँ होनी चाहिएं। हम पाठकों से इस चर्चा में भाग लेने का अनुरोध करते हैं।

४. उन्मीलन स्वतन्त्रतः लिखे गए लेखों का अधिक स्वागत करेगा। भारतीय दर्शन-परम्परा विषयक लेख केवल सृजनात्मक योगदान-परक होने पर ही स्वीकार किये जायेंगे, परिचयात्मक लेख स्वीकार नहीं किये जायेंगे। अभारतीय दर्शन-परम्पराओं सम्बन्धी परिचयात्मक लेख भी स्वीकार किये जा सकते हैं यदि परिचय किसी महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि का उद्घाटन करता हो। इनमें पाश्चात्येतर परम्पराओं सम्बन्धी लेखों का विशेष स्वागत होगा।

५. समकालीन भारतीय दार्शनिकों पर लिखने के लिए गत अंक के अनुरोध को यहां हम पुनः दुहराते हैं।

परामर्श (हिन्दी)

गत छः वर्षों से नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक वैचारिक पत्रिका

सदस्यता शुल्क

वार्षिक :–संस्था–रुपये बीस
व्यक्ति–रुपये चौदह

आजीवन :–संस्था–रुपये एक हज़ार
व्यक्ति–रुपये दो सौ

पत्रिका के सप्तम खण्ड के द्वितीयांक में [मार्च १९८६] प्रकाशित होने वाले कुछ लेख :—

नरेशप्रसाद तिवारी –चार्वाक-दर्शन में विवाह की अवधारणा

रेवतीरमण पाण्डेय –समग्र पूर्णता

प्रेम मिश्र –राधाकृष्णन् : कुछ विसंगतियाँ

प्रेमलता शर्मा –सांख्य दर्शन में अविवेक की अवधारणा

हरिशंकर प्रसाद –बौद्ध दर्शन में कारणता

राजकुमारी जैन –सामान्य विशेषात्मक अर्थ-ज्ञान का विषय

□

संपर्क करें :—

कार्यकारी संपादक
परामर्श [हिन्दी]
दर्शन विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११ ००७

उन्मीलन
जनवरी, १९८६

1

अभाव-संप्रत्यय की दार्शनिक संभावनाएं

नारायण शास्त्री द्राविड़

भारतीय तथा अभारतीय दर्शनों का विहंगमावलोकन करने पर जो एक विशेषता प्रायः इन सब में दृग्गोचर होती है वह 'भाववादिता' या 'भाव-प्रत्ययाधिष्ठितता' है। केवल बौद्ध दर्शन के कुछ संप्रदाय, अद्वैत वेदान्त तथा अस्तित्ववाद की कुछ विधाएं इस विशेषता से रहित कहे जा सकते हैं। 'भाववादिता' या 'भावप्रत्ययाधिष्ठितता' से हमारा अभिप्राय भाव-रूप वस्तु का ही वस्तुसत् के रूप में पुरस्कार करने या किसी न किसी भाव-प्रत्यय को ही मूलभूत मानकर उसके आधार पर अन्य प्रत्ययों या सामान्यानुभव के उपपादन का प्रयास करने से है। उदाहरण के रूप में भारतीय दर्शनों में वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, विशिष्टाद्वैत आदि दर्शन-संप्रदायों का यदि निरीक्षण करें तो इन्होंने क्रमशः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, प्रकृति, पुरुष, क्रिया, शक्ति, ईश्वर, जड़, अजड़ जैसे भावरूप तत्त्वों को ही मूलभूत प्रमेयों के रूप में पुरस्कृत किया दिखाई पड़ेगा। वैशेषिक ने अवश्य अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे अभाव के स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में अभाव की स्वतंत्र सत्ता को इस दर्शन ने लगभग भाव में विलीन ही कर दिया है। परवर्ती नव्य नैयायिकों ने ही 'अभाव-संप्रत्यय' को पुनरुज्जीवित किया, ऐसा उनके उस संप्रत्यय के परिष्कार का विचार करने पर कहा जा सकता है। पश्चिमी दर्शनों में तो अभाव संबंधी चिंतन नहीं के बराबर है। सर्वप्रथम अर्वाचीन दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल ने 'अभाव' के स्वतंत्र तथ्य होने के संबंध में कुछ विचार प्रस्तुत किये थे। हेगेल के दर्शन में जो अभाव या असत् के स्वरूप से संबंधित चिन्तन है वह वास्तव में निर्विकल्प्य तथा अनभिलाप्य सत् का ही विषयीकरण करता है।

शुद्ध अभाव-प्रत्यय की यह दार्शनिक उपेक्षा हमें बड़े विस्मय में डाल देती है जब हम दार्शनिक चिन्तन के प्रारम्भ काल में ही उपनिषत् की 'असद् वा इदमग्र आसीत्' जैसी सूक्तियों में 'असत्' को विश्व के या सृष्टि के मूल कारण या तत्त्व के रूप में प्रस्तावित पाते हैं। उपनिषदों के पूर्व वैदिक ऋषि तो 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' जैसे ऋग्वेदीय सूक्तों में सदसत् से भी अतीत तत्त्व की संभावना पर विचार करने का साहस दिखाते हैं। शुद्ध असत् का सत में रूपान्तरण कैसे हुआ या हो सकता है, यह समझाने का भी प्रयास वैदिक ऋषियों ने किया दिखाई पड़ता है, जिसके निदर्शक 'सच्च त्यच्चाभवत्' जैसे मंत्र हैं। पश्चिमी दर्शन के

उद्गाता यूनानियों ने अनंत, अनिर्धार्य (इंडेफिनेट) आदि संप्रत्ययों का तो पुरस्कार किया है किन्तु वे 'शुद्ध असत्' के संप्रत्यय की दार्शनिक संभावना का आकलन नहीं कर पाये हैं।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'दर्शन' एक ज्ञानात्मक अध्यवसाय होने के नाते उसका विषय 'सत्' ही होगा, 'असत्' के ज्ञान-विषयता की बात ही एक प्रकार से वदतोव्याघात रूप है। अन्य प्रकार के अध्यवसाय भी 'सत्' विषयक ही होते हैं, किसी भी असत्-विषयक अध्यवसाय की कल्पना ही असंभव है। ऐसे 'अविचारित रमणीय' असत् का दार्शनिक चिन्तन के आधार के रूप में पुरस्कार किया ही कैसे जाय? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए हमें 'सत्' के स्वरूप का किंचित् विश्लेषण करना होगा। 'घट', 'पट' आदि जैसे एक सामान्य सत् को ही लें। यह उत्पत्तिपूर्व कहां था? सत्कार्यवाद (जो एकदेशीय सिद्धान्त है) का ख्याल न करें तो इस प्रश्न का उत्तर 'कहीं नहीं' ऐसा ही देना पड़ेगा। 'नष्ट होने या किये जाने पर यह सत् कहां जाता है?' इस प्रश्न का भी उत्तर 'कहीं नहीं' (निरन्वयतः नष्ट हो जाता है) ऐसा ही देना पड़ेगा। किन्तु उत्पन्न होने के अनंतर तथा नष्ट होने तक तो यह सत् देशकाल में अवस्थित है, ऐसा हम मान कर चलते हैं। किन्तु क्या यह विचार सही है? मान लें कि सत् (घट, पटादि) अपनी विद्यमानता दशा में 'सत्' (स्वस्वरूप युक्त) बना रहता है, यदि यह तथ्य हो तो 'सत्' कभी विनष्ट ही नहीं होगा। उत्पत्ति-क्षण में वह जैसा हो वैसा ही वह विनाश-क्षण तक बना रहे तो उसमें उपचय-अपचयादि प्रक्रियायें कदापि घटित नहीं होंगी, ऐसी स्थिति में सत् का क्रमिक विनाश असम्भव हो जायेगा। अक्रम या आकस्मिक विनाश की अपने आप अथवा किसी बाहरी विनाशकारी साधन के द्वारा सत् में सम्भावना मानी जा सकती है। किन्तु सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर यह बात अतर्कसंगत लगती है: सद्-विनाश जो कुछ भी हो उसके घटित होने के पूर्व सत् के अपचय की अनेक क्रमिक अवस्थायें होंगी। इन्हें हम मान लें कि वि$_1$, वि$_2$, वि$_3$, ...जैसे संकेतों से संकेतित करते हैं। अब यदि सत् निसर्ग-नियमानुसार कुछ समय अवस्थित होकर नष्ट हो सकता हो तो वह एक के बाद एक इन सभी विनाश की स्थितियों से गुज़र कर अन्तिम पूर्ण विनाश की अवस्था में प्रवेश करेगा। यदि सत् आकस्मिक रूप से विनष्ट होता है (अपने आप या बाह्य कारण-व्यापार के द्वारा) तो भी उक्त विनाश की सारी अवस्थाओं से सत् का गुज़रना अनिवार्य है। क्रमिक से अक्रमिक विनाश में फर्क इतना ही होगा कि अपेक्षाकृत थोड़े ही समय में, या क्षणमात्र में ही, सत् 'विनाश की सारी' स्थितियों को पार कर लेगा। यदि इन विनाशों को सतही या गुण-धर्म विशेषों का विनाश (जिसे सामान्यतया 'परिवर्तन' शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है) ही समझें तो प्रश्न होगा कि आंशिक रूप से विनष्ट और आंशिक रूप से अविनष्ट तथा सुदृढ़ बना हुआ सत् भी आकस्मिक रूप से कैसे पूर्णतया नष्ट हो पाता है? सत् का जो भाग अविनष्ट बना हुआ है उसका विनाश की सारी स्थितियों से क्रमशः गुज़रे बिना सत् के पूर्ण विनाश की कल्पना तर्कसंगत ही नहीं प्रतीत होती।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी सत् को विनाश-स्थितियों की एक अव्यवहित आनुपूर्वी के रूप में ग्रहण करना सततावस्थायि सत् के रूप में ग्रहण करने की अपेक्षया कहीं अधिक उपयुक्त है। एक प्रतिवाद इस पर यह संभव है कि विनाश (पूर्ण, निरन्वय)

की प्रक्रिया सत् में अनुस्यूत रहने पर भी प्रतिक्षण सत्-सन्तानान्तर्गत नये-नये सत् की उत्पत्ति या स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी हालत में सत् को क्षणमात्रावस्थायि सत्-परम्परा के रूप में आकलन करना विनाश-परंपरा के रूप में आकलन करने की अपेक्षया कहीं अधिक उपयुक्त रूप से सामान्यानुभव-संगत है। असद्वाद की ओर से इस आक्षेप का इस प्रकार समाधान किया जा सकता है कि प्रत्येक सत् की स्थिति का प्रत्येक क्षण पूर्वतन सत् के पूर्ण विनाश तथा नये सत् की उत्पत्ति का क्षण प्रतीत होता है। किन्तु विनाश और उत्पत्ति ऐसी दो अवस्थाओं का प्रत्येक क्षण में घटित होना मानने की अपेक्षा, या प्रत्येक वर्तमान सत् को पूर्व क्षणीय सत् के विनाशरूप मानने में लाघव होने से उत्पत्ति-परम्परा का विनाश-परम्परा के रूप में वर्णन किया जाय तो उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस विकल्प के पक्ष में एक प्रबल तर्क यह होगा कि उत्पत्ति-रूप अवस्था को उत्पन्न वस्तु-रूप मान लेने पर भी पूर्वतन सत् के विनाश को उससे अभिन्न मानना संभव नहीं, क्योंकि वह (पूर्वतन सत् के) अग्रिम क्षण में घटित होता है। यदि इस कारण विनाश का अग्रिम क्षण में अवस्थान मानें तो अग्रिम के अग्रिम सभी क्षणों में उसका अवस्थान मानना आवश्यक हो जायेगा। किन्तु ऐसा मानना न केवल अनुपयुक्त है, वह अतर्कसंगत भी है, क्योंकि सत् की क्षणिकता प्रस्थापित करने के बाद उसके विनाश को अक्षणिक ठहराना नितान्त तर्कदुष्ट होगा; विनाश को विनाश की परम्परा मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अतः प्रत्येक सत् को अव्यवहित पूर्ववर्ती सत् के विनाश-स्वरूप समझना तर्क-लाघव तथा सामान्यानुभव इन दोनों के साथ सुसंगत सिद्ध होता है। इस विस्तृत विवेचन का यही फलित है कि भाव-दृष्टि जितनी तर्कसंगत है उससे कहीं अधिक तर्कसंगत अभाव-दृष्टि है। वस्तुस्थिति ऐसी होते हुए भी भावदृष्टि का ही पुरस्कार दार्शनिक लोग भी क्यों किया करते हैं? इस प्रश्न का एक उत्तर यह हो सकता है कि दृश्य, द्रष्टा, दर्शन आदि सभी में विनाश-प्रक्रिया सामानान्तर रूप से जारी रहने से ये विनाश की स्थितियां परस्पर सापेक्ष रूप में शून्यवत् हो जाती हैं जिसके कारण वस्तुओं में स्थिरता का आभास निर्माण होता है (जैसे समानांतर पटरियों पर एक ही गति से दौड़ती गाड़ियों में आमने-सामने बैठे हुए यात्रियों को एक-दूसरे की स्थिरता का आभास होता है।)

विनाश या असद्वाद की तार्किकता का किंचित् स्पष्टीकरण करने के बाद अब हम, कुछ दर्शनों में असत्-संप्रत्यय को ज्ञात या अज्ञात रूप से किस प्रकार सत्-प्रत्यय में गतार्थ करने का अनुचित प्रयास किया गया है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण करेंगे। सांख्य ने सत्कार्य-वाद के द्वारा असत् या अभाव के संप्रत्यय को पूर्णतया सत्-संप्रत्यय में विलीन कर डाला है: भाव को उत्पत्ति के पूर्व तथा (तथाकथित) विनाश के अनंतर एवं विद्यमानता दशा में सतत परिवर्तमान रूपों में सत्त्व स्वीकार कर सांख्य असत् को पूर्णतया सत् रूप मान लेता है। भाव में घटित होने वाले सभी परिवर्तन भाव के स्वरूप को बाधित किये बिना ही घटित होते हैं, भले ही वे कभी कभी अन्यथा प्रतीत हों। इन परिवर्तनों को अव्यवहितभावि स्वीकार करने के कारण भाव का परिवर्तनों के बावजूद निरपेक्ष उत्पाद या विनाश घटित होने की बात मानने की आवश्यकता उपस्थित नहीं होती।

सांख्य के विपरीत वैशेषिक दर्शन ने अभाव की वस्तुता (सत्ता नहीं) स्वीकार कर

उसे भाव-पदार्थों के समान ही अपने पदार्थ-विभाग में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उसके प्रागभाव (उत्पत्ति पूर्व असत्त्व), प्रध्वंसाभाव (स्थित्यनंतर असत्व), अन्योन्याभाव (वस्तुओं का परस्पर सापेक्ष असत्त्व या भिन्नता) तथा संसर्गाभाव (सापेक्ष दैशिक-कालिक असत्त्व) ऐसे चार प्रकार भी इस दर्शन ने प्रतिपादित किये हैं। प्राचीन (वैशेषिक) न्यायदर्शन में अत्यंताभाव का अभाव की एक विधा के रूप में निर्देश है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अभाव भाव का आत्यंतिक निरसन या अपवारण करने वाला हो तो ही वह अभाव कहलाने योग्य हो सकता है। जो (तथाकथित) अभाव भाव से अंशतः भी सहकृत हो उसे अभाव समझना अभाव की अभावता के अपलाप जैसा ही होगा। लेकिन किसी भी भाव का आत्यंतिक अभाव उपलंभार्ह नहीं है। उदाहरणतः घट की विद्यमानता में उसके अत्यंताभाव की बात ही नहीं की जा सकती, घट के नष्ट हो जाने पर भी, उसका अभाव है, ऐसा कहना संभवतः तर्कसंगत नहीं होगा; क्योंकि 'आत्यंतिक' अभाव का अर्थ त्रैकालिक, सार्वदैशिक तथा वास्तविक वस्तुतः ऐसा अभाव होगा। अवर्तमान घट भी भूतकाल में घट के रूप में विद्यमान होने से उसके आत्यंतिक अभाव की बात ही नहीं की जा सकती। शशशृंग जैसे अलीक पदार्थों का ही आत्यंतिक अभाव संभव है। अभाव के वास्तविक कार्य का विचार करते हुए प्राचीन नैयायिकों ने 'अत्यंताभाव की जो कल्पना की भी वह ठीक ही थी। किन्तु भाव-पदार्थों की देशतः, कालतः, वस्तुतः तथा अन्योन्यतः जो सत्ता की सापेक्षता अनुभव-गोचर होती है उसके लिये भी अभाव शब्द का प्रयोग प्रचलित हो जाने के कारण संभवतः अभाव को संसर्गाभाव के रूप में परवर्ती नैयायिक एवं वैशेषिक समझने लगे। इस विपर्यस्त (या कहें कि भाव-प्रत्ययाधिष्ठित) दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि अभाव-प्रत्यय को भाव-प्रत्यय के साथ अधिक से अधिक निगडित कर दिया गया। जैसे किसी घट का अभाव उसके अनुयोगी या आधारभूत स्थल, उसके प्रतियोगी, या जिस वस्तु का (घटव्यक्ति या घटसामान्य का) वह अभाव है वह व्यक्ति या सामान्य, उसके प्रतियोगितावच्छेदक धर्म, या जिस रूप में घट व्यक्ति या घटसामान्य अभाव का प्रतियोगी (अपवारक) होता है उस रूप इत्यादि के द्वारा निर्धारित माना जाने लगा। इस प्रकार भावों के द्वारा पूर्ण निर्धारित स्वरूप वाली वस्तु के लिए 'अभाव' शब्द का प्रयोग अभाव के वास्तविक स्वरूप का विपर्यासक सिद्ध हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भाव-प्रत्ययाधिष्ठित दृष्टिकोण को अभाव पर थोपने का ही यह परिणाम है कि एक स्वतंत्र अभाव-पदार्थ को पुरस्कृत करके भी उसकी स्वतंत्रता का उत्तरकालीन वैशेषिक ठीक ठीक परिभाषण नहीं कर पाये।

नव्य नैयायिकों ने इस कमी का आंशिक निराकरण देश-काल-निरपेक्ष अभाव-संप्रत्यय के द्वारा करने में सफलता पायी। उन्होंने अनेक प्रकार के केवलान्वयि अभावों की कल्पना की। जैसे, घट-जैसे भाव-पदार्थ का अभाव घटाधिकरण में भी वर्तमान हो सकता है यदि इसका प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध ऐसा हो - जिस सम्बन्ध से घट कहीं वृत्तिमान न हो। न्याय-मतानुसार कोई भावपदार्थ स्वरूप-सम्बन्ध से कहीं वृत्तिमान् नही होता। अतः घट जैसे भाव-पदार्थ का स्वरूप-सम्बन्ध से अभाव घटाधिकरण में भी विद्यमान हो सकता है क्योंकि वह केवलान्वयी या सार्वदैशिक तथा सार्वकालिक है। इसी प्रकार घट पट के रूप से कहीं

नहीं रह सकता अतः घट का पटत्वेन अभाव, जिसे व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न अभाव कहा जाता है, भी केवलान्वयी होता है। ऐसे अभावों की अत्यंताभाव में परिगणना कर सकते हैं यदि इनकी प्रतियोगि-संबद्धता का विचार न करें। उक्त केवलान्वयि अभावों के भी प्रतियोगी-प्रतियोगितावच्छेदक आदि होते ही हैं जिसके कारण इन्हें पूर्णतया आत्यंतिक अभाव समझना ठीक नहीं होगा। इस न्यूनता के निराकरणार्थ कुछ नैयायिक केवलान्वयि अभावों (जैसे घटत्वेन पटाभाव) के प्रतियोगितावच्छेदक के रूप में किसी भी सम्बन्ध को पुरस्कृत कर लेते हैं।

क्षण-भंगवादी बौद्धों ने अभाव-संप्रत्यय को बहुत कुछ शुद्ध भाव-निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया है। इसीलिए इस लेख के प्रारम्भ में बौद्धों की वस्तुसत्-विषयक धारणा की ही असद्वादी दृष्टिकोण के उदाहरण के रूप में चर्चा की गयी। विनाश को उत्पत्ति तथा स्थिति से समीकृत कर उसी के द्वारा वस्तुस्वरूप-निर्धारण क्षणभंगवादी बौद्धों के द्वारा किया जाने के कारण ही उन्हें भारतीय दर्शन-परम्परा में 'वैनाशिक' यह अन्वर्थ संज्ञा दी गयी है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि विनाश को बौद्ध निरन्वय या असंतत मानते हैं। अन्यथा विनाश भाव के नाश का कारण बनकर स्वयं एक स्थायी भाव (जैसा पदार्थ) बन जायेगा। विनाश है या नहीं, ऐसा प्रश्न उसके सम्बन्ध में उचित नहीं है। ऐसे प्रश्न भाव के सम्बन्ध में ही किये जा सकते हैं।

अब तक हमने असत्त्व के रूप में विनाश का ही निरपेक्ष अभाव के तौर पर विचार किया। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि असत्त्व विनाश के द्वारा ही उदाहृत हो। शश-शृंग, आकाश-पुष्प आदि अत्यन्तासत् हैं। इसी प्रकार अन्तर्विरोध-युक्त धर्म, जैसे वृत्ताकार वर्ग, भी अत्यन्त असत् हैं। इनका असत्त्व वैनाशिक नहीं है। यह दूसरे प्रकार का असत्त्व है जिसके लिए संभवतः 'अत्यंताभाव' शब्द प्रथम प्रयुक्त हुआ हो।

भारतीय परम्परा में अत्यन्त असत्त्व के प्रत्यय का उसके शुद्ध रूप में प्रयोग सर्वप्रथम महायान बौद्धों ने किया। तथाकथित भाव मात्र के स्वरूप का विश्लेषण कर उसमें न स्वभाव हो सकता है न परभाव, यह उन्होंने स्पष्ट कर दिखाया। इसके फलस्वरूप सर्व-शून्यता का निष्कर्ष प्राप्त होता है ऐसा उन्होंने प्रतिपादित किया। इस पर उनके प्रतिपक्षियों ने उन्हें शून्यतावादी या सर्वशून्यता-रूप अंतिम तत्त्व अथवा सत्य के पुरस्कर्ता कहना चाहा। माध्यमिकों ने इस आरोप का प्रत्याख्यान करते हुए कहा कि 'शून्यता' न धर्म है, न वस्तु, न ही वह कोई प्रतिज्ञप्ति है, अन्य सभी प्रतिज्ञप्तियों का आत्यंतिक (कोटिचतुष्टय-निरास द्वारा) निरास ही शून्यता है। इस निरास की सत्ता की अपेक्षा करना अभाव पर भावत्व के आरोपण जैसा ही है। प्रतिज्ञप्तियों का अन्तर्गत विरोध के आविष्कार के फलस्वरूप निरन्वय पूर्ण विलय ही शून्यता है। वस्तुतः विकल्पक दृष्टि (हाइपोस्टेटाइज़ेशन) को बुद्धिपूर्वक अपवारित कर शून्यता का विचार किया जाय तो शून्यता के न मानने पर सब पदार्थों की सत्ता स्वीकार करनी पड़ जायेगी। अभाव भाव के रूप में निरुपाख्य है, अभावत्व यदि कोई धर्म मानें तो अभावत्व रूप से भी वह निरुपाख्य है। अभाव सिर्फ अभाव है, जिसका कार्य भाव का अभाव न करना है।

अस्तित्ववाद ने भी इस शुद्ध अभाव-प्रत्यय का उपयोग विषयी, सत् या आत्मा के स्वरूपाकलन के लिये किया है, ऐसा कह सकते हैं। इतना ही नहीं, निरपेक्ष अभावप्रत्यय के बिना विषयी या अस्तित्व के प्रत्यय को समझना लगभग असंभव है। सामान्यानुभव-विषय-सत्ता न्यूनाधिक मात्रा में शाश्वतता से जुड़ी हुई रहती है, किन्तु मानवीय सत्ता प्रतिक्षण विनाश से नगडित रहती है। अतः इसी रूप में इसका अवबोध अपेक्षित है। विषयिता भी विषयता से किसी न किसी रूप में संपृक्त रहती है। विषयता (बाह्यता, वस्तुनिष्ठता आदि जिस के विविध रूप हैं) के पूर्ण अपवारण के फलस्वरूप जो विषयिता अंतर में प्रतिभासित होती है वही वास्तविक विषयिता है। इस प्रकार शुद्ध, निरपेक्ष, अवस्तुक, स्वयं वस्तुत्वशून्य तथा अपवारकता मात्र अभाव परक का संप्रत्यय वस्तु तत्त्वमीमांसा का महत्त्वपूर्ण साधन है जिसका अधिक विस्तृत विचार होना आवश्यक है। इस पर हम अगले लेख में विचार करेंगे।

प्रोफेसर्ज कोलोनी,
हनुमान नगर, नागपुर

उन्मीलन
जनवरी, १९८६

२

धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि—१

राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

धर्म और धार्मिक चेतना की दार्शनिक समझ भारतीय दर्शन-परम्परा के लिए भले ही नयी बात न हो—क्योंकि यहाँ तो प्रत्येक धर्म से जुड़ा एक विशाल दार्शनिक व्याख्या-तंत्र उपलब्ध है—किन्तु यह आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के लिए एक नयी बात अवश्य है। कोई विरला ही आधुनिक भारतीय दार्शनिक चिंतक इस दिशा में अपने-आप को किसी व्यवस्थित रूप में प्रवृत्त कर पाया है। मेरा उद्देश्य यहाँ यह दिखाने का नहीं है कि इस वस्तुस्थिति के कारण क्या हैं, यद्यपि मुझे इन कारणों का यत्किंचित् आभास अवश्य है, मेरी दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह दिखाना है कि धर्म और धार्मिक चेतना पर दार्शनिक चिंतन स्वयं दर्शन-क्रिया के ही किन्हीं मूल आधारों को समझने में बड़ा लाभकारी सिद्ध हो सकता है। फिर, धर्म के ही जिन गूढ़ पक्षों को उजागर करने में दार्शनिक चिंतन से मदद मिलती है वह तो दर्शन के बाहर भी समादर-योग्य है।

आधुनिक युग को हम 'ज्ञान का युग' कह सकते हैं, और आधुनिक मनुष्य को 'जिज्ञासु मनुष्य' कहा जा सकता है। जिज्ञासा से जागृत हुई ज्ञान की प्रक्रिया अविराम आगे बढ़ती है। उसका मार्ग ऐसे अवशेषों से भरा पड़ा है जो कभी मानव-अनुभव और विचारों की विशाल अट्टालिकायें थीं। इन ऐतिहासिक अवशेषों से गुज़रते हुए हमें रोमांच हो आता है; कभी हमें लगता है कि वे आज भी हमसे ज्ञान की शैली में बात करने को आतुर हैं। किन्तु चूँकि मनुष्यों की सूक्ष्म मनोग्राह्यता में बराबर एक असमानता पायी जाती है, इसलिए केवल अति सूक्ष्म संवेदनशील मनुष्य ही इन अवशेषों के अन्तर में झंकृत भाषा को सुन पाते हैं, और इन थोड़े से मनुष्यों में भी बहुत थोड़े ही उसे सुन कर समझ सकते हैं।

इस युग की एक सामान्य धारणा यह है कि मानव-ज्ञान के मार्ग पर दूर-दूर तक फैले विशालतम तिलिस्मी अवशेषों की एक शृंखला का नाम ही 'धर्म' है। मानव-चेतना की छिपी हुई पर्तों को उधेड़ते हुए फ्रायड ने इसे एक भ्रम (इल्यूज़न) के रूप में पाया; इतिहास के जटिल द्वंद्वों की कड़ियों को सुलझाते हुए मार्क्स ने इसमें एक शोषण-तन्त्र, 'मनुष्य के अफीम', की झलक देखी; और नीत्शे ने इसमें अपने महामानव के अवरोधक 'दास-नैतिकता' के दर्शन किये। कुछ अन्य चिन्तकों की समझ अधिक सहानुभूतिपूर्ण रही। आधुनिक समाज-शास्त्रियों ने धर्म को मानव-सभ्यता के मूल उपादानों में से एक समझते

हुए उसे एक सामाजिक तथ्य माना, जबकि दार्शनिक रुझान रखने वाले चिन्तकों—जैसे, किर्केगार्ड और व्हाइटहेड—ने उसके मर्म को वैयक्तिक मानस के निःशब्द एकान्त में एक भाव-तरंग के रूप में पाया। कुछ ऐसे भी समकालीन विचारक हुए जिन्होंने धर्म को सारे मानव-जीवन—सामाजिक और वैयक्ति, बाह्य और आन्तरिक में सराबोर देखा, जैसे महात्मा गांधी, जिन्होंने राजनीति जैसे अत्यन्त इहलौकिक क्रिया-कलापों के सम्बन्ध में भी यही दृष्टिकोण रखा कि 'धर्म-विहीन राजनीति एक मृत देह की तरह केवल दफना देने योग्य है।'

धर्म और धार्मिक चेतना पर दार्शनिक चिंतन के लिए आवश्यक नहीं है कि चिंतनकर्त्ता किसी धर्म का पक्षधर ही हो, यद्यपि अवश्य धर्म के कई पक्षधर धर्म पर दार्शनिक चिंतन की बात से नाक-भौं सिकोड़ेंगे, क्योंकि उनकी समझ में दार्शनिक चिंतन उस बे-लगाम ऊँट-की-नाक की तरह है जो यदि धर्म के किसी कोने में घुस गया तो उसे पूरी तरह उखाड़-पछाड़ कर ही छोड़ेगा। दर्शन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण संदेह का है, क्योंकि वे दार्शनिक चिंतन की परिणति सम्बन्धित विषय-वस्तु को शंकास्पद बना देने में देखते हैं। शायद एक दार्शनिक-चिंतन के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से परहेज़ नहीं करेगा। पर हम जो यहाँ करना चाहते हैं वह यह कतई नहीं है। हम धर्म को वास्तविक मानव-चेतना की एक विशिष्ट स्थिति के रूप में मान्य कर उसे उसके आधारभूत स्वरूप व संरचना में समझना चाहते हैं। इस दृष्टि से देखे जाने पर धर्म एक ऐसी वस्तु-स्थिति, एक ऐसी स्वाधृत घटना (कुछ चिंतकों के लिए एक दुर्घटना) के रूप में स्पष्ट होता है जो किसी भी विचार या व्याख्या से पूर्व प्रदत्त है। पुनः, चूँकि वह वस्तु-स्थिति मानव-चेतना की स्थिति भी है, वह एक विशिष्ट अर्थ में स्व-व्याख्येय या स्वरूपेण व्याख्येय भी है। व्याख्या (वैज्ञानिक व्याख्या) और स्व-व्याख्या (जैसे दार्शनिक व्याख्या) के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्याख्या साधारणतः कारणात्मक होती है, अर्थात् व्याख्या की जाने वाली वस्तु-स्थिति को किसी अन्य कारण—रूप वस्तुस्थिति के प्रकाश में उसके आधार से समझा जाता है। दूसरी ओर, स्व-व्याख्या में व्याख्येय विषय को अन्य सभी विषयों से अलग स्वतः उसी के प्रकाश में उसी के आधार से समझा जाता है। प्रकटतः चेतना की हर स्थिति अपने एक विशिष्ट रूप में इसी तरह स्व-व्याख्येय या स्वरूपेण व्याख्येय है। प्रस्तुत संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि किसी भी व्याख्या की संगतता का आधार सिद्धान्ततः चेतना या चेतना के उपादान नहीं होते, जबकि स्व-व्याख्या की संगतता सदैव केवल चेतना और उसके उपादानों के आधार से ही निश्चित की जा सकने योग्य होती है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि जबकि फ्रायड, मार्क्स और नीत्शे धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, किर्केगार्ड, व्हाइटहेड, गांधी जैसे चिंतकों का प्रयास धर्म की स्व-व्याख्या का रहा है।

धर्म की स्व-व्याख्या से एक चीज़ जो उभर कर सामने आती है वह है मानव-चेतना में अतिक्राम्यिता (ट्रांसेन्डेंस) की वृत्ति। धर्म चेतना की इस वृत्ति का न केवल प्रथम ऐतिहासिक प्रकाश है वरन् अब तक केवल वही उक्त अतिक्राम्यिता को उसकी समग्रता में अभिव्यक्ति देने वाला एकमात्र सफल मानव-प्रयास भी है। किन्तु सर्वप्रथम 'अतिक्राम्यिता'

का अर्थ स्पष्ट कर लें : मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि यह मानव-चेतना की वह स्व-प्रेरित वृत्ति है जो मानव-अस्तित्व के सभी प्रदत्तों—आन्तरिक-बाह्य, आत्मगत-वस्तुगत —से उसे परे ले जाती है। धर्म के आरम्भिक स्रोतों में हमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—उसकी मूल समस्यात्मकता के लक्षण-निरूपण में। यथा, **ऋग्वेद** (१·१६४५४) में : "मैं सचमुच क्या हूं, नहीं जानता; मन से बँधा हुआ बस चलता जाता हूं···"। और **भगवद्गीता** (II २८–२९) में : "वह जो जीवों में केवल मध्य में व्यक्त है, तथा आदि और अन्त में अव्यक्त, उसे सब आश्चर्य से देखते, बोलते और सुनते हैं, किन्तु जानता कोई भी नहीं।" पाश्चात्य चिंतन में अतिक्राम्यिता की पारंपरिक धारणा ईश्वरवाद से जुड़ी रहने से, तथा वहाँ ईश्वर की धारणा के अन्तर्गत उसे एक 'छुपे हुए तत्त्व' के रूप में स्वीकार करने के कारण, अतिक्राम्यिता को मानव-चेतना की ही एक मूल वृत्ति के रूप में बहुत बाद में—विशेषकर आधुनिक अस्तित्ववादियों के चिंतन में—देखा जा सका। वैसे भारतीय धर्मों के जानकार देख सकते हैं कि ईश्वर को न तो ऐसा एक 'छुपा तत्त्व' मानने की ज़रूरत है और न उसे मानव-चेतना से स्वरूपतः भिन्न समझना आवश्यक है। यही कारण है कि भारत में आरम्भ से ही धर्म की एक मूल मान्यता के रूप में अति-क्रामिता मानव-चेतना का स्वरूप-लक्षण मानी जाती रही है।

मानव-चेतना की अतिक्राम्यता के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि चूँकि यह वृत्ति मानव-अस्तित्व को उसके सभी प्रदत्तों से परे ले जाने में सक्षम है, वह स्वयं उस कार्य-कारण श्रृंखला से स्वतन्त्र है जो प्रदत्तों के क्षेत्र में एक नियामक-संरक्षक तत्त्व है। अतः यह आव-श्यक है कि हम इस अतिक्राम्यता को उसकी सक्रियता में स्वतःस्फूर्त और स्वनिर्देशित मानें। पुनः, यह भी मानना होगा कि मानव-अस्तित्व के सभी तीन पक्षों—संज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक—में उसकी गति एक-सी है। अर्थात्, मानव-चेतना की अति-क्राम्यिता समूचे मानव-अस्तित्व को किसी भी स्थिति में जड़ बन कर पड़ा न रहने देने की एक पक्की गारंटी है। फलतः मानव-विकास की पूरी आनुवंशिकी भी उसी अतिक्राम्यता में सन्नि-हित है। अतः यह भी द्रष्टव्य है कि मनुष्य विकास के जिन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है वे मूलतः अनिश्चित, अमूर्त और केवल संभाव्य हैं, जिन्हें 'कांक्ष्य' या 'आदर्श' के रूप में चुनना मनुष्य की ज़िम्मेदारी है। संज्ञान के क्षेत्र में विज्ञान, संवेग के क्षेत्र में साहित्य और ललित कलाएं, तथा क्रिया के क्षेत्र में विविध खेल-कूदों का विकास मानव-चयन का परिणाम है। इन क्षेत्रों में से प्रत्येक में ऐसा विकास मानव-चेतना की अतिक्राम्यता की सक्रियता का सूचक है—प्रत्येक स्थिति में मानव-अस्तित्व के किन्हीं स्थूल प्रदत्तों से परे निकल कर हम उस एक सूक्ष्म चेतना-स्थिति की ओर बढ़ते हैं जिसे कभी ज्ञान, तो कभी आनन्द कहा जाता है और इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये अपने-आप में कांक्ष्य या मूल्यवान् बन कर प्रकट होते हैं। वैदिक साहित्य में इसी ज्ञान और आनन्द की एकता को चरम पुरुषार्थ कहा गया है, और भारतीय धर्मों का चरम लक्ष्य भी यही है।

मानव-चेतना की स्वतःस्फूर्त तथा लक्ष्य-प्रेरित अतिक्रामिता पर अधिक विस्तार से विचार करने पर उसकी दो मुख्य दिशाएँ जान पड़ती हैं—आत्मगत या अन्तरतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति मनुष्य द्वारा अपने प्रदत्त स्वभाव-संरचना के अतिक्रमण के प्रयास में होती है,

नैतिक, विधिमूलक और कलात्मक क्षेत्रों में मानव-सृजनशीलता मूलतः इसी प्रकार की अतिक्राम्यता से संभव हो पाती है। इसमें प्रदत्त मानव-मनोजगत् को ही पुनःसंस्कारित करने का प्रयास होता है। दूसरी ओर, बहिरतिक्राम्यता के अन्तर्गत मोटे तौर पर विज्ञान और तकनीकी क्रिया का सारा क्षेत्र आ जाता है। सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में बहिरतिक्रामिता का लक्ष्य मनुष्य के प्रदत्त परिवेश की पुनर्रचना द्वारा उसे अधिकाधिक मानव-आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना है। अन्तरतिक्रामिता और बहिरतिक्रामिता के बीच यह अन्तर भी किया जा सकता है कि जबकि प्रथम के अन्तर्गत सृजनशीलता मूलतः संवेगों से सम्बन्धित होती है, द्वितीय के अन्तर्गत इस मानव-सृजनशीलता का मूल सम्बन्ध संज्ञान (वस्तु-ज्ञान) से होता है। संवेग और संज्ञान के उभय क्षेत्रों में वे मानव-क्रियाएँ संश्लिष्ट होती हैं जो मानव-शरीर द्वारा सम्पन्न होते हैं; किन्तु जिस तरह मानव-शरीर को न तो संवेगों-संज्ञानों में अपचयित किया जा सकता है और न ही शुद्धतः मनोमय या वस्तुगत समझा जा सकता है, उसी तरह मानव-क्रियाओं की भी अपनी एक कोटि है। अतः यह समझना आवश्यक है कि अतिक्रामिता के मूल लक्षण वाली मानव-चेतना मानव-शरीर-चेष्टाओं का अतिक्रमण किस तरह करती है। शारीरिक चेष्टाएँ प्रकृततः जैव-आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए हुआ करती हैं और उनकी कोटिमूलक विशेषताएँ हैं उनका उपयोगी होना, सरल या कठिन होना, सहज या अभ्यासवश होना, कुशल या अकुशल होना। मानव-चेतना की सर्जनात्मक अतिक्रामिता शारीरिक चेष्टाओं के प्रकृत लक्ष्य से परे उन्हें खेल-कूद, व्यायाम आदि के स्तर तक पहुँचाती है और तब वे मूलतः विनोद के लिए होते हैं, जैविक आवश्यकता-पूर्ति के लिए नहीं। शारीरिक चेष्टाओं के सम्बन्ध में इस तरह की सर्जनात्मक अतिक्रामिता कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रथमतः उसे सीधे अन्तरतिक्रामिता अथवा बहिरतिक्रामिता में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता; किन्तु द्वितीयतः, उसे दोनों से एकान्ततः बाहर भी नहीं रखा जा सकता। इस विरोधात्मक-सी दिखने वाली स्थिति का सीधा कारण मानव-व्यक्ति द्वारा अपने शरीर की समझ है—चूँकि वह अपने शरीर को बाह्य परिवेश से एकाकार नहीं समझ सकता इसलिए उसकी चेष्टाओं के संदर्भ में चेतना की बहिरतिक्रामिता संभव नहीं है; किन्तु पुनः, चूँकि वह अपने शरीर को अपने मनस् से एकाकार नहीं समझ सकता इसलिए अपनी शारीरिक चेष्टाओं के संदर्भ में चेतना की आन्तरतिक्रामिता संभव नहीं है। अतः शारीरिक चेष्टाओं के बारे में चेतना की अतिक्राम्यता का अपना ही एक विशिष्ट रूप है, और वह यह है कि केवल इस प्रकार की अतिक्राम्यता में अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता एक बिंदु पर आकर मानव-चेतना में संश्लिष्ट होते हैं। इस तरह मानव-शरीर-चेष्टाओं के संदर्भ में अतिक्राम्यता का एक केन्द्रीय महत्त्व है, क्योंकि बिना इसकी सहायता के संवेग और संज्ञान की विकसित अवस्थाओं को मानव-चेतना की एक ही संरचना में सूत्रबद्ध नहीं किया जा सकता। इसमें संरचनात्मक सूत्रबद्धता से ही यह संभव हो पाता है कि उच्च कलाओं को वैज्ञानिक ढंग से सीखा-सिखाया जा सकता है और विज्ञानों में भी विचारों व अभिव्यक्तियों की कलात्मक सज्जा मिल जाती है; विशुद्ध शारीरिक चेष्टाओं को कलात्मक मुद्राओं में बदला जा सकता है (यथा, नृत्य में—सभी प्रकार के नृत्यों का आरम्भिक रूप शायद विनोदपूर्ण खेलों का ही था) और वैज्ञानिक प्रतीक-भाषाओं व निरीक्षण-परीक्षण की विधाओं में भी (द्रष्टव्यः बोली जाने वाली आधुनिक

भाषा का आद्य रूप शारीरिक संकेतों का ही था तथा निरीक्षण-परीक्षण किन्हीं स्थूल शारीरिक चेष्टाओं के ही सूक्ष्म और सुलझे रूप हैं)।

मानव-चेतना की संरचनात्मक अतिक्राम्यता के इन विविध पक्षों को ज़रा विस्तार से बताने से हमारा अभिप्राय यह है कि हम धर्म-सम्बन्धी इस विशिष्ट स्थिति को समझ सकें कि केवल धर्म के क्षेत्र में उक्त अतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति उसकी सम्पूर्णता में मिलती है। इस बात को समझने के लिए सर्वप्रथम हम धर्म के अन्तर्गत अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता को स्पष्ट करेंगे।

धार्मिक चेतना की अन्तरतिक्राम्यता का सर्वाधिक व्यवस्थित और विस्तृत रूप उपनिषदों में, विशेष कर **तैत्तिरीयोपनिषद्** की पंचकोषमय मानव-अस्तित्व की व्याख्या में मिलता है। यहां अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों के बीच एक क्रमिक श्रृंखलाबद्ध अतिक्राम्यता की बात कही गयी है जिसमें मानव-चेतना क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म तथा अ-पादार्थिक सारभूत अस्तित्व-तत्त्वों के स्तर पर अपनी उपलब्धि करती है। अवैदिक धर्म-ग्रथों में भी इसकी कमोबेश झलक देखने को मिलती है। जैसे, ईसाई धर्म-ग्रंथ **बाइबिल** (न्यू टेस्टामेंट) में शरीर से अधिक जीवन और जीवन से अधिक आत्मा (स्पिरिट) के अधिक महत्त्वपूर्ण या सारभूत होने की बात कही गयी है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि यहूदी-परम्परा में उत्पन्न किसी भी धर्म में हमें धार्मिक चेतना की अन्तरतिक्राम्यता की वैसी गहरी अन्तर्दृष्टि-पूर्ण व्याख्या नहीं मिलती जैसी उपनिषदों में उपलब्ध है। शायद इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि यहूदी-परम्परा के धर्मों के अन्तर्गत मूल धार्मिक अनुभवों और उनसे सम्बन्धित संरचना में दार्शनिक निरूपण का प्रायः अभाव रहा है। मूल धार्मिक अनुभवों (जिनके अन्तर्गत ईश्वर-सान्निध्य, आत्म-साक्षात्कार जैसी मौलिक अनुभूतियाँ हैं) तथा उनसे संलग्न मूल धार्मिक संरचना (जिसमें धार्मिक विधि-विधान तथा प्रतीक-संस्थान आते हैं) को वहाँ किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों तक सीमित कर दिया गया है, जिसमें कि अन्य व्यक्ति दार्शनिक अन्तर्दृष्टि द्वारा उनकी पुनरुपलब्धि का दावा नहीं कर सकते। अतः वहाँ मूल धार्मिक अन्तरतिक्राम्यता को केवल पूर्वमान्य ही किया जा सकता है और इसलिए उसका स्वरूप सदैव रहस्यमय बना रहता है। धार्मिक अंधश्रद्धा के लिए यह स्थिति बड़ी उपजाऊ भूमि का काम करती है।

धार्मिक चेतना की बहिरतिक्राम्यता का एक अच्छा निरूपण पुनः हमें वैदिक धर्म—विशेषतः **ऋग्वेद** के निरूपणों में मिलता है, यद्यपि उसमें व्यवस्था या क्रम का अभाव है। कमोबेश यही स्थिति अन्य धर्मों के निरूपणों में भी पायी जाती है। वैदिक निरूपणों में बहिरतिक्राम्यता की अभिव्यक्ति का यह क्रम जान पड़ता है : सर्वप्रथम, गोचर वस्तु-रूप हैं (विशेष और सामान्य दोनों)। मनुष्यों की धन-सम्पत्ति (रयि) हैं। फिर इनके कारण-स्वरूप भौतिक-जैविक शक्तियां हैं, जो उक्त वस्तुरूपों का सूक्ष्म सारतत्त्व हैं। पुनः, इन सूक्ष्म शक्तियों का अधिष्ठाता तत्त्व है आद्य मिथुन—द्यावापृथिवी। और अन्त में इस आद्य मिथुन की स्वतःकारण-रूप संरचनात्मक एकता ही वैदिक 'एक', 'ब्रह्म' या 'पुरुष' है जिसमें एकसाथ ही सारभूत केन्द्रस्थता (जो चेतना-संदर्भ में चित् और विश्व-संदर्भ में सत् है) है, और गतिरूप प्रसरता में ही चित् के भाव और अभाव के साथ क्रमशः देवताओं और असुरों की उद्भावना होती है। पुनः, वेदों में सत् का मूलरूप सहज स्वरूपवत् प्रसरता का है जो चेतना की विशिष्टता से

प्रकाशवत् तथा उसके अभाव से अन्धकारवत् होता है। प्रकाशवत् प्रसरता में आत्म-चेतना की विशिष्टता से 'पुरुष-भाव' उत्पन्न होता है। चेतना की उपलब्धि स्वरूपतः अतिक्रमणात्मक होती है—और ऐसी चेतना देवताओं के साथ-साथ मनुष्यों में भी पायी जाती है। दूसरी ओर चिद्-अभाव के कारण अन्धकारावृत प्रसरता को अन्नं-रयिम् जैसी भौतिक-जैविक शक्तियां रूपायित करती हैं। द्रष्टव्य है कि वैदिक दृष्टिकोण से सत् का अन्धकारावृत प्रसरता वाला रूप अपने-आप में अशुभ या पापविद्ध नहीं है (उल्लेखनीय है कि वेदों में 'असुर' वेदताओं की भी अभिधा है)। वस्तुतः वे एक-साथ जीवन व मृत्यु दोनों के ही उपादान हैं—ठीक वैसे ही जैसे अग्नि का रूप हव्याद तथा क्रव्याद दोनों प्रकार का है, यद्यपि अपने स्वरूप में वह देवता है, एक अति महत्त्वपूर्ण वैदिक देवता। अग्नि के सम्बन्ध में हमने अभी जो बात कही वह इस दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि इसमें मनुष्य की भौतिक अर्थात् शारीरिक चेष्टाओं में धार्मिक अतिक्राम्यता का स्वरूप स्पष्ट होता है।

भगवद् गीता (८. ३) में मानव-कर्म की परिभाषा दी गयी है: 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'।[1] वस्तुतः इस परिभाषा में मानव की भौतिक चेष्टा का अतिक्रामी स्वरूप ही वर्णित हुआ है। इस चेष्टा के फलस्वरूप, एक ओर प्रदत्त वस्तु-रूपों में रूपान्तरण घटित होता है—मनुष्य अपने लिए एक नये परिवेशमय संसार की रचना करता है, तो दूसरी ओर स्वयं क्रियाओं-चेष्टाओं के क्षेत्र में भी एक महत्त्वपूर्ण रूपान्तरण घटित होता है—ये चेष्टाएं अपने उत्पाद के स्थूल स्वरूप से न चिपक कर स्वयं अपनी अभिव्यक्ति में मनुष्य के लिए सुख-चेतना में परिवर्तित होती हैं। इस तरह मनुष्य की शारीरिक चेष्टाएं समान रूप से मानवीय बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् में गतिशील होती हैं। साधारणतः कोई उसकी गति के प्रथम रूप (भूतभाव की उद्भावना करने वाले तत्त्व का रूप) से ही परिचित होता है, जबकि उसका द्वितीय रूप (भूतभाव के संदर्भ में विसर्ग या विच्छेद) अन्तःसलिला की भांति दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु धार्मिक चेतना के अन्तर्गत इस अन्तःसलिला को चेतना की ऊपरी सतह पर लाया जाता है जिससे उसके द्वारा उस चेतना की अन्तरतिक्राम्यता और बहिरतिक्राम्यता को एक सूत्र में बांधा जा सके। धार्मिक क्रियाकांडों और अनुष्ठानों की केन्द्रीय महत्ता प्रत्येक धर्म में इसीलिए है।

उपर्युक्त बात को स्पष्ट करने के लिए एक बार फिर हम वैदिक धर्म का उल्लेख करेंगे। वैदिक कर्मकांड और अनुष्ठान का रूप 'यज्ञ' का है और **ऋग्वेद** (५. ५२.१०) में उसका स्वरूप-निदर्शन इस तरह हुआ है— वह स्वयं यज्ञकर्त्ता की ओर ले चलने वाला मार्ग है (आंपथयः), वह भौतिक जगत् की ओर ले चलने वाला मार्ग है (विपथयः), वह मानव-मानस-

१. शंकर इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं: "भौतिक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाला विसर्ग (यज्ञ में हवि-त्याग) ही कर्म है। इस बीज-रूप यज्ञ से ही वृष्टि आदि के क्रम से स्थावर-जंगम सब भूत उत्पन्न होते हैं।" श्री अरविन्द के अनुसार इसका अर्थ है: "कर्म वह सृजन-वासन ;तथा उर्जा है जो आद्य आत्म-संभवन (सेल्फ बिकमिंग): स्व-भाव : में से वस्तुओं को घटित करती है—कारा-मुक्त करती है (लूज़ ज़ आउट) और प्रकृति में अस्तित्वों के (भूतों के) आविर्भाव के वैश्व-व्यापार को क्रियान्वित करती है। द्र. "एस्सेज़ ऑन गीता" : पृ, २७७-७८) यहां ह. माहेश्वरी द्वारा लिखित-संपादित भगवद्गीता इन दि लाइट आफ श्री औरोबिंदो, पांडिचेरि से उद्धृत। (संपादक)"

जगत् की ओर ले चलने वाला मार्ग है (अन्तस्पथः), और वह विश्व-सामंजस्य या ऋत की ओर ले चलने वाला मार्ग है (अनुपथः)। उसका अपना मूल स्वरूप एक पथ या मार्ग है जिसके कुछ निश्चित लक्ष्य हैं और वह स्वयं इन लक्ष्यों को एक सूत्र में जोड़ने वाली कड़ी है। 'यज्ञ' एक धार्मिक अनुष्ठान के रूप में एक-साथ ही स्थूल जगत् की उद्भावनामूलक चेतना, स्वयं मनुष्य (यज्ञकर्त्ता) की आत्म-चेतना, समग्र जगत् की सामंजस्यमूलक व्यवस्था की चेतना तथा मनुष्य मात्र के मूल्योन्मेष की चेतना को एक ही संरचना में अभिव्यक्ति देता है और इस तरह मानव-की अतिक्राम्यिता शारीरिक चेष्टा की विशेष विधा में भी प्रकट होती है। एक धार्मिक मनुष्य धार्मिक अनुष्ठानों को बार-बार करना चाहता है, क्योंकि उसे धार्मिक संतुष्टि और सुख की उपलब्धि इन्हें करने से मिलती है। जैसाकि स्पष्ट होगा, आवश्यक नहीं कि इस सन्तुष्टि और सुख का आधार मानव-अज्ञान, अभ्यास, या अन्ध-श्रद्धा ही हो, जैसाकि कई आधुनिक विद्वान समझते हैं। वरन् तथ्य यह है कि धर्म की समग्र संरचना, तथा मनुष्य की चेतना की समस्त वृत्तियां (संवेगमूलक, संज्ञानमूलक, क्रियामूलक), इन अनुष्ठानों में अतिक्रामिता से विशिष्ट होकर अभिव्यक्त होती हैं।

मैंने ऊपर धर्म की विशिष्ट घटनात्मकता को समझाने के लिए उसमें निहित चेतना की संरचना को, विशेष कर उसकी अतिक्रामिता के स्वरूप को, स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अधिक ठीक यह कहना होगा कि यहां मैंने उस तरह के प्रयास की एक रूप-रेखा ही प्रस्तुत की है, और वह भी केवल वैदिक धर्म के संदर्भ में। किन्तु मैं मानता हूं कि किसी भी धर्म के संदर्भ में दार्शनिक दृष्टिकोण हमें उक्त तरह की व्याख्या उपलब्ध करा सकेगा, क्योंकि धर्म मात्र में निहित तत्त्वों—उसकी तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नैतिकता, श्रद्धा व कर्मकांड—को मानव-चेतना की विविध विधाओं वाली अतिक्रामिता की सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता के आधार से ही समझा जा सकता है। इससे दो बातें उभर कर सामने आती हैं। एक यह कि मानव-चेतना के संदर्भ में धर्म की एक आद्य मौलिकता और ऐतिहासिक सत्यता है जिसे तब तक भुला पाना सम्भव नहीं जब तक कि मनुष्य अपने विकास के लक्ष्य के रूप में अपने समूचे स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति चाहता है। दूसरी यह कि स्वतः आत्म-चेतन दार्शनिक चिंतन की अपनी पारदर्शिता और 'ज्ञान' (विज़डम) की दिशा में अथक क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति का एक बड़ा अच्छा माध्यम धार्मिक-चेतना की बहु-आयामी अतिक्राम्यता की व्याख्या हो सकता है। दार्शनिक चिंतन स्वतः भी उक्त बहु-आयामी अतिक्रामिता को अपने ढंग से अपनी संरचना में व्यक्त करना चाहता है; किन्तु चूंकि वह यहां हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है, उसके विस्तार में हम नहीं जायेंगे। बस केवल यह याद रखेंगे कि धार्मिक-चेतना में उस अतिक्राम्यता का प्रकटन दर्शन के क्षेत्र में उसकी प्रस्तुति के लक्ष्य के सर्वाधिक करीब है।

दर्शन विभाग,
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर (म. प्र.)

उन्मीलन
जनवरी, १९८६

३

मूल्य : विषय-सत्ता

यशदेव शल्य

जैसाकि हमने पीछे देखा,[1] ज्ञान जबकि तथ्य–विषयक होता है, मूल्य प्रतिमान-विषयक होता है। तथ्य का एक अनिवार्य धर्म अस्तित्व में होना है। जो अस्तित्व में रहा है किन्तु अब नहीं है, वह भी तथ्य है, यद्यपि वह अब अतीत तथ्य है। इसी प्रकार भविष्यत् में होने वाली घटनाओं को भी तथ्य कहा जा सकता है— जब भविष्यत् को आगे घटित होने वाले वर्तमान के रूप में देखा जाता है। उदाहरण के लिए "कल होने वाला सूर्योदय" एक भावी तथ्य है, "आज उदित सूर्य" एक वर्तमान तथ्य, और "पिछले कल का सूर्योदय" एक अतीत तथ्य। इनमें काल विषयी और विषय के बीच एक बाह्य सम्बन्ध है, परिणामतः भावी या सम्भव भी वस्तुतः वर्तमान ही हो जाता है। इसके विपरीत प्रतिमान वह है जो तथ्य नहीं है किन्तु जो तथ्य को होना चाहिए। यदि काल की पदावली में तथ्य और मूल्य में भेद करें तो कहा जा सकता है कि तथ्य विद्यमानता : वर्तमानता : है और मूल्य भाव्यता। किन्तु यह अन्तर इनके स्वरूपों की ओर संकेत तो करता है, इनका निरूपण नहीं करता, क्योंकि 'भाव्य' का अर्थ यदि विद्यमान का रूपान्तरण अथवा विद्यमान सम्भावनाओं का वास्तवीकरण भी माना जाय तो भी यह पद प्रतिमान या मूल्य के तत्त्व को सम्यक् रूप से व्यक्त नहीं करता। ऐसा नहीं है कि कोई तथ्य प्रतिमान नहीं हो सकते : कृतियां और कार्य तथ्य भी होते हैं और इन्हें हम प्रतिमानों के रूप में भी देखते हैं : किन्तु उनकी प्रतिमानता उनकी तथ्यता से मौलिक रूप में भिन्न होती है; यह किसी अन्य तथ्य की इस अपेक्षा से होती है कि उसको वैसा होना चाहिए था जैसा प्रतिमानभूत तथ्य है और वह तथ्य नहीं है। यह अपेक्षा दोनों तथ्यों को उनकी पार्थिवता से मुक्त कर उन्हें आदर्शों के चिदाकाश में प्रतिष्ठित कर देती है। अब एक तथ्य न्यून और असत्-मय हो जाता है और दूसरा अन्यून, आदर्श, और असत् से मुक्त।

जैसाकि हमने अन्यत्र[2] देखा था, बया का घोंसला गौरैया के घोंसले से उत्कृष्टतर है; यहां कहा जा सकता है कि, वह प्रतिमान के निकटतर है। अब, यहां यह भी कहा जा सकता है कि "यह उत्कृष्टता एक तथ्य है।" किन्तु एक दूसरे अर्थ में, यह तथ्य नहीं है और न यह कभी तथ्य हो सकता है। तथ्य केवल दो प्रकार के घोंसलों का होना है।

१. उन्मीलन के अगस्त १९८५ अंक में "मूल्य : विषयि-सत्ता" लेख द्रष्टव्य।

२. द्रष्टव्य "सत्ता और पर्याप्तता", परामर्श, मार्च १९८४।

किन्तु यह प्रकारता-भेद किस बात में है ? एक प्रकारता में ये दोनों एक हैं : कि ये दोनों घोंसले हैं, एक दूसरी प्रकारता में ये भिन्न हैं, यह प्रकारता इनकी संरचना और गठन में है। इस दूसरी प्रकारता को इनका ज्यामितिक गुण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार, दो घोंसले दो ज्यामितिक संरचनाएं हैं, वे दोनों गौरैया के हों, या एक गौरैया का और दूसरा बया का। अवश्य इनमें भी प्रकार-भेद है, कि दो गौरैया के और दो बया के घोंसले केवल दैशिक रूप से परस्पर व्यावृत्त हैं, किन्तु गौरैया का और बया का घोंसला दैशिक और रचनात्मक दो रूपों में परस्पर व्यावृत्त हैं।

किन्तु तिनकों की केवल ज्यामितिक संरचना उन्हें घोंसला नहीं बनाती, उस संरचना में प्रतिफलित प्रयोजन उन्हें घोंसला बनाता है। यह प्रयोजन ही उस संरचना को एक अन्विति, एक संहति, देता है। यहां कहा जा सकता है कि परमाणुओं और सौरमण्डल में यह संहति अपने सौष्ठव की पराकाष्ठा पर है, किन्तु इन संहतियों को प्रयोजनात्मक नहीं कहा जा सकता, ये केवल ज्यामितिक और यांत्रिक होती हैं। यहां कहा जा सकता है कि भौतिक प्रकृति को यांत्रिक नियम के रूप में देखना केवल एक पूर्वाग्रह है, किन्तु यहां हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि किसी वस्तु-स्थिति को इस प्रकार भी देखा जा सकता है और भौतिकता इस दृष्टि का एक आदर्श उदाहरण है। किन्तु कुछ दूसरी वस्तु स्थितियां हैं जिन्हें इस प्रकार नहीं देखा जा सकता, जैव प्रकृति इसी प्रकार की वस्तु स्थिति है। किन्तु जैव प्रकृति की प्रयोजनात्मकता आत्म-चेतन नहीं होती। भौतिक प्रकृति प्रयोजनात्मक और यांत्रिक दोनों रूपों में कल्पित की जा सकती है, वास्तव में इसके कुछ अंशों को तो पृथक्-पृथक् यांत्रिक व्यवस्था के रूप में ही अधिक सम्यक् रूप से समझा जा सकता है : जैसे पानी के बहाव से मिट्टी का कटना, अधिक वर्षा होने से नदियों में बाढ़ आना आदि : किन्तु प्राकृतिक व्यवस्था का उसकी समग्रता में ज्यामितिक-यांत्रिक व्यवस्था के रूप में अवधारण सहज प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि समग्रता इन्द्रियगम्य नहीं होकर विचारगम्य एक आदर्शात्मक सत्ता है। वास्तव में जैसाकि हमने पीछे अनेक स्थलों पर देखा, विशिष्ट विषय भी केवल अंशतः ही इन्द्रिय-गोचर एक समग्र होता है और अपनी समग्रता में यह बुद्धि-गोचर ही होता है। इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू ने जो इन्द्रियगोचर का सत्त्व या सत्य क्रमशः प्रत्यय (आइडिया) और आकार (फोर्म) में देखा वह कल्पना को तथ्य के ऊपर स्थान देना नहीं है, बल्कि तथ्य को उसकी सम्पूर्णता में देखना है।

किन्तु यहां आपत्ति हो सकती है कि यदि समग्रता इन्द्रिय-गोचर विषय नहीं है तो उसे कल्पनामूलक क्यों नहीं कहा जाय ? अवश्य यह कल्पना यादृच्छिक नहीं होकर अतिक्रामी, अथवा कहें बुद्धि-स्वभावमूलक ही होती है, इसी से बौद्ध इसे अनादि वासना, कांट प्रत्यक्ष की अतिक्रामी एकता (ट्रांसेंडेंटल यूनिटी आफ अप्पर्सेप्शन) और पाश्चात्य अनुभववादी तार्किक संरचना (लॉजीकल कंस्ट्रक्शन) कहते हैं, किन्तु ये नाम इसकी असत्कल्पनामूलकता की ही विभिन्न व्याख्याएँ हैं। किन्तु ये विचारक यह भूल जाते हैं कि इस दृष्टि से सत्ता इन सबसे अधिक कल्पना-मूलक हो जायेगी।

समग्रता को विकल्पमूलक : कल्पना-मूलक : कहने के पीछे सत्ता-विषयक एक जैव-धारणा है, जिसके अनुसार इन्द्रिय-गोचरता सत्ता का आदर्श प्रतिमान है। किन्तु यह आदर्श वास्तव नें पराङ्.मुख चित्त की आस्था का है, प्रत्यङ्.मुख चित्त के विषय ऐन्द्रिक नहीं होकर प्रत्यय ही होते हैं। ये विषय : प्रत्ययः द्वि—आयामात्मक होते हैं, एक आयाम

प्रस्तुत–परकता का होता है और दूसरा प्रतिमान-परकता का। प्रस्तुति विषय का अस्तित्व है और प्रतिमान उसका सत्य। कुछ प्रत्यय ऐसे भी होते हैं जो सत्ता-पक्ष में न्यूनतम होते हैं और अस्तित्व-पक्ष में अधिकतम होते हैं : भौतिकता इस क्रम में सर्वप्रथम है; दूसरे प्रत्यय हैं जो सत्ता-पक्ष में अधिकतम होते हैं, उनके लिए अस्तित्व का पक्ष उतना ही गौण होता है : इनमें ईश्वर सर्वप्रथम है; परम श्रेयस्, ऋत आदि दूसरे हैं, जिनके लिए अस्तित्व का प्रश्न अप्रासंगिक होता है। ईश्वर (ब्रह्म) के सम्बन्ध में यह प्रश्न करना कि उसका अस्तित्व है या नहीं इसलिए अप्रासंगिक है क्योंकि अस्तित्व में जो कुछ भी सत् है वह वही है, अथवा कहें, वही अस्तित्व का सत्य है।[3] इसी प्रकार ऋत के लिए यह कहना कि उसका अस्तित्व है, इसलिए अप्रासंगिक है क्योंकि जो भी कुछ अस्तित्व में है वह उसी के द्वारा है, वह अस्ति-वस्तुओं की व्यवस्था और छन्द है : परमाणु में उतना ही जितना सौरमण्डल में, चींटियों की बस्ती में उतना ही जितना मनुष्य–समाज में। यहां कहा जा सकता है कि, "मनुष्य–समाज का अस्तित्त्व है" यह प्रतिज्ञप्ति उसकी व्यवस्था के अस्तित्त्व को भी सम्मिलित करती है, उसकी व्यवस्था उसके अस्तित्व के बाहर कुछ नहीं है। किन्तु ऐसा नहीं है; सामाजिक व्यवस्था, जितनी वह होती है, उसको अस्तित्व में बनाये रखना अत्यधिक दुष्कर होता है। यह अस्तित्व ऋत में अवस्थित होता है, यह स्वयं ऋत नहीं होता, यह उसकी केवल न्यूनाधिक और औपाधिक अभिव्यक्ति होता है। गोत्व और मनुष्यत्व दूसरे तुलनीय प्रत्यय हैं : गोत्व गाय के अस्तित्त्व को धारण करता और उसका नियमन करता है, इसके विपरीत मनुष्यत्व मनुष्यों के अस्तित्व को धारण करने वाला और उसका नियामक नहीं है, यह उस धारणा का, उस प्रतिमाः प्रतिमानः का आधार है जो प्रतिमा व्यक्ति की पर्येषणा-अभीप्सा को धारण करती और उसका नियमन करती है। दूसरे शब्दों में, मनुष्यत्व मानव-तन का प्रतिमान नहीं होकर आध्यात्मिक सत्त्व है और उसी अनुपात में वह सत्ता में गुरुतर और अस्तित्त्व में क्षीणतर है।

इसका अर्थ हो जाता है कि अस्तित्व सत् और असत् का संयोग है : वह कुछ सत् है और कुछ असत्। उदाहरण के लिए मेरा यह लेख एक विचार की अभिव्यक्ति का प्रयत्न है। मैं आन्तर अवधान और मनन से इस विचार की सत्ता का अवगाहन करने का प्रयत्न कर रहा हूं और इस लेख में इसे व्यक्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। यहाँ सहज ही तीन स्तर उत्पन्न हो जाते हैं : व्यक्तता का स्तर, मनन में अवगत स्तर, और मनन में अनवगत स्तर। अब यह विचार इस अभिव्यक्ति का आधार और सत् है और यह अभिव्यक्ति उसी सीमा तक सत् है जिस सीमा तक यह इस विचार को व्यक्त करने में सफल है, और यह उस अनुपात में असत् है जिस अनुपात में यह इसे व्यक्त करने में असफल है। शारीरिक और मानसिक अस्वास्थ्य इसका एक दूसरा उदाहरण हो सकता है। स्वास्थ्य की परिभाषा हो सकती है "अपने तत्त्व अथवा प्रत्यय के अनुसार अस्तित्व।" अब किसी देह के अपने प्रत्यय के अनुसार होने का क्या अर्थ है? प्रत्येक देह अपने प्रत्यय में एक पृथक् आवयविक संहति और क्रिया-

३. यद्वाचानभ्युदितं, येन वागभ्युद्यते। यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम्। यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति। यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। यत् प्राणेन न प्राणिति, येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केनोपनिषद्, । १. ४–८)

व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था और संहति बल, पृथुलता, कृशता आदि से परिभाषित नहीं होती। यह अपने आंतरिक सामरस्य और सप्राणता से परिलक्षित होती और बल तथा पृथुलता आदि के रूप में व्यक्त होती है। इसी से दो देहों में एक का दूसरे से कम सबल, पृथुल या कृश होना उसे दूसरे से कम या अधिक स्वस्थ नहीं बनाता, प्रत्येक देह की पृथुलता–कृशता का प्रतिमान उसका निजी होता है। किन्तु यह निजी प्रतिमान वास्तविक होता है, काल्पनिक नहीं, यद्यपि यह पार्थिव लोक में विद्यमान नहीं होता। यह प्रतिमान उस शरीर की सबलता आदि की संभावनाओं का निर्धारण करता है और परिणामतः इसीसे उसका स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य निर्धारित होता है। इसे उस देह का प्रत्यय भी कह सकते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी चित्र या गीत का प्रत्यय होता है। प्रत्येक अवयवी या व्यष्टि एक ओर अपने विशिष्ट प्रत्यय से निर्धारित होता है और दूसरी ओर किसी जाति-प्रत्यय से, जिस प्रकार गाय-व्यष्टि अपने विशिष्ट प्रतिमान से भी निर्धारित होता है और सामान्य प्रत्यय : गोत्व : से भी। दो देहों के विशिष्ट प्रतिमान उनके उत्कर्ष की अधिकतमता को पृथक् निर्धारित करते हैं, और इस अर्थ में उन्हें परस्पर अतुलनीय बनाते हैं कि एक को दूसरे से बल या सौष्ठव आदि में अल्प या अधिक केवल बाह्यतः ही कहा जा सकता है, आन्तरतः नहीं।

इन प्रत्ययों या प्रतिमानों को हम एक दूसरे अर्थ में भी आन्तर और बाह्य कह सकते हैं। वह इस यह अर्थ में कि प्रतिमान आत्म-विदित (सेल्फ अवेयर) है या नहीं? आत्म-विदित प्रतिमानों को हम आन्तर और अविदित को बाह्य कह सकते हैं। आत्म-अविदित प्रतिमान को बाह्य कहने से हमारा अभिप्राय यह है कि इससे सम्बन्धित चित्त और अस्तित्व अपने आविर्भाव और नियोजन का स्वयं अधिष्ठाता नहीं होता, इसके विपरीत आत्मविदित चित्त अपने प्रतिमान और अस्तित्व का अपने संकल्प से आक्षेप करता है, जिस प्रकार वह अपनी अन्य कृतियों का भी करता है। इस प्रकार मनुष्य अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व में तो आत्म-विदित होता है, अपने दैहिक व्यक्तित्व में नहीं, यद्यपि योग में वह उसका भी अधिष्ठातृत्व सिद्ध करने का और इस प्रकार उसमें भी आत्मविदित होने का प्रयत्न करता है। आत्म-विदित प्रतिमान ही मूल्य कहा जाता है। यों इस अर्थ में आत्म-अविदित प्रतिमानों को भी मूल्य कहा जा सकता है कि ये भी अपने से परिभाषित अस्तित्व का उत्कर्षण करते हैं, वह उत्कर्ष चाहे आत्म-अविदित ही क्यों नहीं हो : जैसे जैव देह अपनी क्षति की पूर्ति के लिए विकल होता है। किन्तु यहां वास्तव में यह कल्पना रहती है कि यह अविदितता आत्यन्तिक नहीं है, केवल प्रसुप्त या अत्यधिक है। उदाहरणतः भौतिक प्रकृति में, उसकी शुद्ध भौतिकता में भी, व्यवस्था या संरचना की उत्कृष्टता-अपकृष्टता के उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे साधारण पत्थर और स्फटिक में, किन्तु इनमें हम किसी भौतिक प्रतिमान की बात नहीं कर सकते। अब यहां यह कल्पनीय है कि आत्म-विदितता स्वयं एक मूल्य है और इस प्रकार भौतिक और आत्म-अविदित चित्त का भी अन्वेष्य और नियोजक है, जिसके बिना सभी प्रत्यय अपने स्वरूप और अर्थ में अधूरे रहते हैं। यही कारण है कि अविदित अस्तित्व के स्तर पर मूल्य केवल दैहिक, आवयविक तथा व्यवस्थात्मक मात्र रहते हैं। अब, यदि जगत् अपनी समग्रता में भी आत्म-अविदित है तो उसका पर्येष्य आवयविक अथवा व्यवस्थात्मक उत्कर्ष होने के अतिरक्त स्वयं आत्म-वेदित्व भी होना चाहिए, जिसमें आवयविकता, व्यवस्था और संहति साधन मात्र बनते हैं।

ऐतिहासिक रूप से आत्म-वेदिता का आविर्भाव केवल मनुष्य में ही मिलता है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य जगत् के सत्त्व की अद्यावधि उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति है। किन्तु यदि आत्म-वेदिता जगत् का अन्वेष्य और सत्य है तब इसे जगत् का मूल और आद्य तत्त्व भी होना चाहिए, क्योंकि नहीं तो स्वयं में जगत् निराधार गति होगा और उसकी दिशा और लक्ष्य आगन्तुक होंगे। वास्तव में इतिहास के लिए जागतिकता (बिकमिंगनेस) पूर्वापेक्षित होने से सत्त्व (बींग) जगत् का अन्वेष्य मूल्य और गंतव्य तो हो सकता है, उसका यांत्रिक फल या परिणाम नहीं। अर्थात् आत्म-विदित चित् यदि जगत् का मूल्य, सत्त्व और अन्वेष्य है तो यही उसका आधार-तत्त्व और नियामक भी है; ऐसा नहीं है कि जगत् यांत्रिक रूप से भौतिक से जैव और जैव से आत्म-चेतन में परिणत होता है।

किन्तु इस प्रतिपादन में एक कठिनाई है: आत्म-विदितता में आत्म विषय-रूपेण आक्षिप्त होता है, यद्यपि यह विषय-भूत आत्म (अस्मिता) अपने विषयी से भिन्न होने पर भी अभिन्न होता है। किन्तु तब भी यह भिन्न होता है: आत्म-प्रत्यय रूप में: और यह भिन्न आत्म पूर्णतः पारदर्शी, पूर्णतः आत्म-विदित नहीं होता—मैं अपने चित्त को केवल अंशतः ही जानता हूँ। यह स्थिति विषयी की सीमितता को प्रकट करती है, अन्यथा उसके लिए विषय-मात्र पूर्णतः पारदर्शी होना चाहिए, आत्म को स्वयं को तो पारदर्शी होना ही चाहिए। अब यदि आत्म-विदित चित् इस प्रकार आत्म-विभक्त और सीमित है तब वह पूर्ण सत् नहीं हो सकता, केवल वह असद्-व्यवहित ही हो सकता है। फ़िख़्ते ने आद्य और आत्म-अविदित सत् (इगो) में आत्म-विदित सत् के विषयी और विषयभूत आत्म के रूप में आविर्भाव की बात की है। शैलिंग ने उस पर आरोप लगाया कि उसका आद्य—अविभक्त आत्म: सत्: सीमित और वैयक्तिक है। किन्तु फ़िख़्ते ने उसका प्रतिवाद किया। किन्तु तब भी, उसके अनुसार भी, इस आद्य आत्म से उद्गत आत्म-विदित आत्म अन्तर्विभक्त और वैयक्तिक ही होता है। शैलिंग भी आत्म-अविदित प्राकृतिक चित् (गॉड एज़ नेचर) को ही आद्य सत् के रूप में देखता है, जो चित् आत्म-विदित मानव-चेतना के रूप में विकसित होता है।[4] किन्तु यदि अविभक्त सत् को आत्म-विभक्ति और अपारदर्शिता में ही पर्यवसित होना है तब यह मूल्य नहीं हो कर अवांछनीय स्थिति ही हो सकती है। किन्तु फ़िख़्ते और शैलिंग में यह इस कारण मूल्य है क्योंकि आद्य सत् नितान्त रूप से आत्म-पराङ्मुख (आइडिया एक्स्टर्नेलाइज्ड), प्रकृतिमय ईश्वर है और आत्म-विभक्त चित्: मनुष्यरूपेण: साथ ही आत्म-विदित भी है। इसके विपरीत कुछ भारतीय दर्शन-संप्रदाय आद्य सत् को अविभक्त किन्तु आत्मप्रकाश-स्वरूप और आत्मस्थ देखते हैं, यह उनके द्वारा निद्रा को ब्राह्म स्थिति के निकटतम कहने से स्पष्ट है। किन्तु इस दृष्टि की मुख्य कठिनाई यह है कि प्रकाश-स्वरूप अखंड चित् अपने को अपारदर्शी तथा अंशतः अपारदर्शी रूपों में क्यों कर घटित करता है? यहां दो उदाहरण लें: एक, अपनी समग्रता में प्रकृति और दूसरा, चित्। अब प्रश्न होगा कि प्रकृति अपने प्रत्यय से न्यून है या अन्यून? यहां इसका उत्तर सहज नहीं है, क्योंकि यदि प्रत्यय को आत्म-विदित माना जाता

४. इस पर द्रष्टव्य "पाश्चात्य दर्शन का इतिहास, भाग २," सं. दयाकृष्ण, में हमारे लेख—"फ़िख़्ते" तथा "शैलिंग"। (राजस्था हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, १९८५).

है तो प्रकृति वास्तव में प्रत्यय से स्वरूपतः अभिन्न हो जाती है, क्योंकि तब प्रत्यय आत्म-बहिष्कृत (एक्स्टर्नेलाइज्‌ड) केवल हमारे लिए ही होता है, जो हम इन्द्रिय द्वारा आत्म-बहिष्कृत होते हैं। और यदि यह प्रत्यय आत्मविदित नहीं है तो प्रकृति अपने प्रत्यय से अधिक हो जाती है, क्योंकि अपनी समग्रता में यह प्रत्यय की पूर्ण अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति होने से यह उसमें अव्यक्तार्थ को व्यक्त करती है और इसमें मूर्तता का एक नया आयाम जोड़ती है। किन्तु यहां प्रतिवाद किया जा सकता है कि जगत्‌ के अभिव्यक्त और इन्द्रिय-ग्राह्य होने पर इसकी "समग्रता" का कोई अर्थ नहीं रह जाता, क्योंकि काल-प्रवाह इसका अनिवार्य घटक हो जाता है। किन्तु सम्भवतः प्रकृति को इनमें एक रूप में नहीं बल्कि दोनों रूपों में देखना उपयुक्त है : यह स्वरूपतः आत्मविदित और पूर्णतः पारदर्शी प्रत्यय है और पर-रूपतः यह इन्द्रिय-ग्राह्य अभिव्यक्त जगत्‌। इसकी पर–रूपता इसकी इन्द्रिय-ग्राह्यता में है। दूसरा उदाहरण किसी कृति : जैसे चित्र : का लिया जा सकता है। चित्र अपने प्रत्यय की अभिव्यक्ति होता है। यद्यपि यह प्रत्यय व्यक्ति-चित्त द्वारा गृहीत सामान्य होता है किन्तु यह पूर्णतः पारदर्शी अपनी अखंड सम्पूर्णता में साक्षात्कार्यः नहीं होता और अपने रूप-रेखांकन में यह और भी असम्यक्तया ग्राह्य होता है। किन्तु अपने मूल में यह प्रत्यय आत्म-विदित ही होता है, क्योंकि व्यक्ति-चित्त आत्म-अविदित को व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति-चित्त अव्यवहित चैतन्य का प्रकृतीकरण है, अचित्‌ का चित्करण नहीं। इसका प्रमाण यह है कि चित्त प्रत्यय का साक्षात्कार उस सीमा तक ही स्पष्टतया कर पाता है जिस सीमा तक वह प्रत्यङ्‌मुखीन मनन में अपना निरोध कर पाता है। किन्तु रूप-रेखाओं में अंकन प्रत्यय का आगे और प्रकृतीकरण है, जहां यह पूर्णतः आत्म-अविदित होकर चित्त-गृहीत प्रत्यय के लिए संकेत-मात्र होता है।

किन्तु यहां आक्षेप हो सकता है कि मूल्य चित्र होता है, नकि अव्यवहित प्रत्यय, क्योंकि हम चित्र के निर्माण का प्रयत्न करते हैं और उसकी सफल रचना में अपनी सिद्धि देखते हैं, अव्यवहित प्रत्यय के अव्यवहित साक्षात्कार के लिए प्रयत्न नहीं करते, वह प्रयत्न हम केवल चित्रण की सम्यक्ता के लिए करते हैं। यह सही है, किन्तु "चित्र की सफल रचना" किस में निहित होती है ? स्पष्टतः इसका प्रतिमान अव्यवहित प्रत्यय का सम्यक्‌ निरूपण ही होता है। किन्तु तब यह एक अत्यन्त गुह्य पहेली है : मूल्य प्रत्यय का साक्षात्कार होना चाहिए न कि उसका अपारदर्शी माध्यम में निरूपण, जो कि कभी भी सम्यक्‌ और पर्याप्त नहीं हो सकता। दूसरे, प्रत्यय के आत्म-विदित और स्वतःसिद्ध रहते उसके चित्र द्वारा निरूपण की अपेक्षा ही उत्पन्न क्यों होती है, हम उसके स्वरूप में ही उसके साक्षात्कार का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?

वास्तव में इस वैपरीत्य में ही मनुष्य के अस्तित्व की और मूल्य की सत्ता की गुह्यता निहित है। मनुष्य न प्रत्यय की आत्म-विश्रांत अव्यवहित सत्ता है और न पर–रूपेण कल्पित आत्म-अविदित अस्तित्व, यह पर-रूप में स्वरूप का द्वितीयावर्तन है, आत्म-अविदित में आत्म-विदित का आविर्भाव, जिसके द्वारा दूसरी सृष्टि का प्रवर्तन होता है। यह चित्त की आत्म-विभक्त सत्ता है, आत्म–विश्रान्त पूर्ण पारदर्शिता नहीं। अव्यवहित सत्ता का द्वितीयावर्तन होने से इसके लिए मूल्य पर–रूप में स्वरूप का सम्यक्‌ निरूपण है : हम चित्र में प्रत्यय को मूर्तित करना चाहते हैं, उसकी असम्यक्ता और अपर्याप्तता का ग्रहण हम उसके अन्तःसाक्षा-

त्कृत प्रत्यय से उसकी तुलना के द्वारा करते हैं, और हमारे लिए मूल्य साक्षात्कृत प्रत्यय का पर–रूप (प्रकृति) में निरूपण होता है, साक्षात्कार मात्र नहीं। इसे नैतिक नैमूल्य के सन्दर्भ में और भी स्पष्टता से देखा जा सकता है : नैतिक श्रेयस् के प्रत्यय का बौद्धिक साक्षात्कार अत्यधिक दुस्साध्य है, किन्तु वह संभव हो जाने पर भी मूल्य उसका हमारे प्राकृतिक व्यक्तित्व : मन और देह : में अन्वयन होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि प्रत्यय का साक्षात्कार भी वास्तव में द्वितीयावर्तन ही है, केवल इस भेद के साथ कि इसमें प्राकृतिक चित्त अपने पर–रूप का अतिक्रमण कर आत्म-सत्ता का पुनराकलन करता है। यह आकलन भी अत्यधिक दुस्साध्य होता है, किन्तु यह प्रत्यय के निरूपण से भिन्न प्रकार का व्यापार है : प्रथम में अव्यवहित प्रत्यय का पर–रूप के निवारण के द्वारा साक्षात्कार अपेक्षित होता है और दूसरे में उसका पर–रूप में निरूपण, अथवा कहें पर-रूप का स्वरूप के अनुसार रूपान्तरण। इस दूसरी साधना के बिना प्रथम सिद्धि सार्थक नहीं मानी जाती, और वास्तव में इसके बिना प्रथम सिद्धि की भी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न होता है।

यहां पारमार्थिक तत्त्व-कल्पना (स्पेकुलेशन) के लिए दो विकल्प हैं जो तत्त्व-साक्षात्कार के लिए अनुसन्धेय हैं। एक विकल्प आत्म-विभक्त आत्म-चेतना : अंशत : आत्म-विदित चित् (मनुष्य) : को सत्ता में नवीन प्रादुर्भाव के रूप में देखने का है, जिस प्रादुर्भाव के द्वारा सत्ता आत्मगत अविदित अर्थ-विपुलता का दर्शन करती है। शैल्लिग का आधार-तत्त्व (फाउंडिंग प्रिंसिपल) अथवा प्रकृत्यौपाधिक ईश्वर (गाड एज़ नेचर) इसी प्रकार का तत्त्व है। किन्तु हम ऊपर आत्म-अविदित सत्ता की आद्यता के विकल्प को अस्वीकार कर चुके हैं। दूसरा विकल्प इस व्यवहित आत्म-चेतना (मनुष्य) को निस्सीम और अखंड आत्म-चेतना में द्वितीयावर्तन के रूपमें देखने का है, जिसके द्वारा एक दूसरी सृष्टि का प्रवर्तन होता है, जो सृष्टि आत्म-विभक्ति के कारण मूल सृष्टि से सर्वथा भिन्न है किन्तु जिसके लिए पर्येष्य इस विभक्ति के मार्ग से उस पूर्ण पारदर्शिता की सिद्धि है जिस पारदर्शिता में अपने से व्यवहित आत्म अब अपने से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता बल्कि अपने से यौगपद्य प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, यह चित् की अखंड आत्मसत्ता का अपने पर आवर्तन है, जो उसमें अभिन्न स्थित अर्थ के असीम वैविध्य में आविर्भाव का हेतु बनता है।

हमें यह दूसरा विकल्प अधिक युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि प्रथम विकल्प के अनुसार आत्म-चेतन अर्थ-गवेषणा के सत्य होने के लिए कोई आधार नहीं रहेगा, कम से कम इसके लिए कोई प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि यदि आत्म-विदितता सर्वथा नवीन आविर्भाव माना जाता है तब आधार-सत् तमसावृत गह्वर-वत् होगा और आत्मचेतना द्वारा दृष्ट अर्थों की सत्यता में विश्वास के लिए कोई आधार नहीं हो सकेगा। कहा जा सकता है कि अर्थ-गवेषणा की सत्यता की कसौटी आत्म-चेतना की स्पष्टता हो सकती है। तब कहा जा सकता है कि आत्म-चेतना के नव्योत्पत्ति होने पर यह (आत्मचेतना) तमस् आधार का आत्मोत्क्रमण होगी, और यह उत्क्रमण जितना ही अधिक होगा गवेषणा उतनी ही सत्य होगी। इस दृष्टि के अनुसार गवेषणा की सत्यता के लिए किसी बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, यह प्रमाण गवेषणा के अपने भीतर निहित है, क्योंकि गवेषणा सत्ता में इस दृष्टि के आविर्भाव के मार्ग का ही निरालस अनुसरण है। इसमें असत्य इस अनुसरण से विरति, अथवा कहें आधार-

तमस् से तादात्म्य, का होना है।[5] यद्यपि इस युक्ति में प्रयत्न की अनन्तता और इसकी प्रामाणिकता की अनिवार्य निराधारता के बावजूद प्रयत्न में आस्था का गौरव है, किन्तु इसमें कुछ गंभीर काठनाइयां हैं। प्रथम कठिनाई प्रकृति को समझने की है। यह असम्बद्ध घटनाओं का समवाय नहीं होकर एक सुरचित आवयविक व्यवस्था है। यह व्यवस्था आधार में विचार और योजना को स्वीकार किये बिना व्याख्येय नहीं है। इस स्वीकृति के बिना व्याख्या की युक्तता के लिए एक ही उपाय है कि व्यवस्था को हमारा आरोप माना जाय, प्रकृति में स्वभावगत नहीं। किन्तु तब व्यवस्था को ही नहीं, प्रकृति को भी हमारा आरोप मानना होगा, क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से व्यवस्था में और व्यवस्थित वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं है, सिवाय इसके कि एक मुख्यतः संवेदगम्य है और दूसरा मुख्यतः बुद्धिगम्य। किन्तु यदि व्यवस्था को हमारी कल्पना का आरोप मान लिया जाता है तब भी इससे वास्तव में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उस अवस्था में व्यवस्था और व्यवस्थित का उपादान और निमित्त मानवीय चैतन्य को मानना पड़ता है जो व्यक्तिमूलक या यादृच्छिक नहीं होकर अतिक्रामी और अवैयक्तिक है और इस प्रकार स्वयं उस सबका भी उपादान और निमित्त है जो मानवीय है। इस प्रकार स्वयं मानवता एक आरोप हो जाती है। अब, मानवीय चित्त आत्मचेतन है, किन्तु यह आत्मचेतन मानवीय चित्त व्यक्तिगत या समाजगत नहीं है बल्कि वह है जो मानव-व्यक्ति और मानव-समाज के रूप में व्यक्त होता है। यदि आप मानव-व्यक्ति और मानव-समाज को भी आरोप कहना चाहें, जैसाकि जगन्मिथ्यात्ववादी भारतीय दार्शनिक[6] और कुछ पाश्चात्य दार्शनिक भी कहते हैं, तो यह चित्त स्वभावतः आद्य सर्जक और आत्म-प्रकाशित हो जाता है, क्योंकि यही चित्त मानवता के आरोप (उपाधि) का उपादान और निमित्त होने से सम्पूर्ण आरोप का निमित्त हो जाता है, और यही वह फलक या पटल भी हो जाता है जिस पर यह आरोप होता है।

किन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनाई आत्म प्रकाशित चित्त को निस्सीम और पूर्णतः पारदर्शी चैतन्य स्वीकार करने की है। किन्तु यह कठिनाई इस कारण है क्योंकि इस चित्त की प्रथम और अनिवार्य क्रिया आत्म का विषयकरण देखी गई है जो इसे विषयी और विषय दोनों पक्षों में सीमित कर देती है। किन्तु वास्तव में चित्त के आत्म-प्रकाशन के लिए आत्मविभाजन अथवा सीमित विषयरूपेण अपना आक्षेप आवश्यक नहीं है।[7] अवश्य अस्मिता, अथवा व्यक्तिरूपेण अपना अवधारण, आत्मचेतन चित्त का ही व्यापार है, किन्तु यह उसका एकमात्र व्यापार नहीं है, और न इस विषयाक्षेप का सीमित विषयरूपेण आक्षेप होना ही अनिवार्य है। सीमि-

५. ज्याँ पॉल सार्त्र ने "बींग एंड नथिंगनेस" पुस्तक के अंतिम अध्याय में इस मत का बहुत स्पष्ट और सशक्त प्रतिपादन किया है।

६. इनमें हम सांख्य तथा विज्ञानवादी, शून्यवादी और सौत्रांतिक बौद्धों को भी सम्मिलित करते हैं।

७. हमने अपनी पुस्तक ',मनुष्य और जगत्,' के "धर्म-दर्शन" अध्याय में निस्सीम चित् को आत्मविदित स्वीकार नहीं किया है, और इस कारण ईश्वर की सत्ता का निषेध किया है। ऐसा इस मान्यता के कारण हुआ कि हमने वहां आत्म-विदितता के लिए आत्म का विषयकरण अनिवार्य माना और इस विषय के लिए इतर-व्यावृत्ति को और इस प्रकार सीमितता को। किन्तु यह अयुक्त है जैसा कि यहां हम देखेंगे।

तता वास्तव में चित्त की पराङ्मुखता में आविर्भूत होती है, प्रत्यङ्मुखता में इसका चैतन्य में अतिक्रमण होता है। अस्मिता, अथवा सीमित आत्म-विदितता, सांवेदनिक उपादान में संरचित आत्म-प्रत्यय है जो इसी उपादान में रचित इतरताओं से व्यावृत्त और अवच्छिन्न होता है। किन्तु प्रत्यङ्मुखता में यह प्रत्यय निरपेक्ष सामान्यता में अतिक्रमित हो जाता है : नैतिक ऋत (मॉरल लॉ) सीमित अस्मिता को सामान्य के अधीन करके ही प्रकाशित होता है जबकि तात्त्विक ऋत इस अस्मिता के नितान्त विलय के द्वारा प्रकाशित होता है। उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' आदि तीन महावाक्य इसी विलय के आख्यान हैं, दर्शन इस दृष्टि की बौद्धिक सिद्धि का प्रयत्न है।

वास्तव में आत्म के आक्षेप का प्रथम कर्म, जो सीमित विषयी द्वारा सीमित और किंचित् अपारदर्शी विषय का आक्षेप है, साथ ही प्राक्तन पराङ्मुख चेतना में व्याप्त तमस् के भेदन का प्रथम कर्म भी है। पराङ्मुख चेतना पूर्णतः सांवेदनिक और परिणामतः सीमित चेतना है। इसमें अस्मिता का आविर्भाव वास्तव में मात्र विषयता का आविर्भाव नहीं है, क्योंकि विषयता पराङ्मुख चेतना का मूल धर्म है, बल्कि विषयि-सापेक्ष विषयता का आविर्भाव है, और विषयिता का आविर्भाव नितान्त पराङ्मुखता और तमसाच्छन्नता से मुक्ति का प्रथम कर्म होता है। किन्तु इसमें तमस् से पूर्ण मुक्ति का बीज विद्यमान होता है। इसीसे इस विषय (आत्म) का आक्षेप मात्र आहंकारिक अस्मिता का आक्षेप नहीं होता बल्कि साथ ही उस प्रतिमान का आक्षेप भी होता है जो समग्र और व्यापकतम सामान्य के रूप में इसको निर्बन्ध करता है।

जैसाकि हमने अन्यत्र अनेक स्थलों पर देखा है, चित्त का प्रत्यङ्मुख आरोहण विशेष से, अस्तित्व से, सामान्य में उन्मुक्तता की ओर होता है। यह सामान्य उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रैक्ट) नहीं होता, जैसाकि 'वार्धक्य,' 'शैशव' आदि पदों में होता है, जिनमें अर्थ अस्तित्व से पृथक् होकर कल्पना में पुनारचित होते हैं, बल्कि स्वयं अस्तित्व का अपने मूल सत् की ओर अभिगमन होता है और इस प्रकार अपने सत्य से अपना सायुज्य होता है। इस प्रकार विषयभूत अस्मिता का आविर्भाव वास्तव में चित्त की विषयोन्मुख वृत्ति में नहीं होता बल्कि आत्मोन्मुख वृत्ति के प्रथम चरण में होता है। इस आविर्भाव के साथ चित्त की, विशिष्ट विषयता से मुक्त होकर अपनी मूल सर्वव्यापकता की ओर, सर्वसमावेशी सामान्यार्थ की पुनरुपलब्धि की ओर, यात्रा का आरम्भ होता है। इस प्रकार विषयकरण वास्तव में चित्त की विषयरूपेण आत्मोपलब्धि का चरण है जो विषयी अब उन अर्थों को निरीक्षणार्थ और व्याकरणार्थ प्रस्तुत करता है जो अर्थ इसके विषयकरण के बिना उसमें निमीलित अथवा अव्याकृत थे। परिणामतः आत्म का विषयकरण उन अर्थों के अपरोक्ष साक्षात्कार का आरम्भ होता है जो साक्षात्कार चित्त को विषय-निबन्धन से, विशिष्टता से, और इस प्रकार अहंकार से मुक्त करता है।

किन्तु मनुष्य आहंकारिकता, विषयि-रहित विषयता और तमस् से एक ओर और निरहंकारता या सार्वभौमता, विषयिता और ज्ञान से दूसरी ओर उपलक्षित होता है। यह मध्यवर्तिता ही उसे मूल्यान्वेषी बनाती है, उसकी आहंकारिकता, विषय-निबद्धता और

तमसाच्छन्नता उसे आत्म-व्यवहित करती है और यह व्यवधान उसमें न्यूनाधिक आत्म-विदित रहता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि इस व्यवधान से मुक्ति ही उसके लिए प्रयत्नसाध्य नहीं होती बल्कि व्यवधान की अवगति भी प्रयत्न-साध्य होती है, क्योंकि अस्तित्वगत चित् सहज रूप से आत्म-पराङ्मुख होता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि, तब मूल्य सबके लिए एक ही होने चाहिएं, जोकि नहीं होते। इसका उत्तर है कि, मूल्य ही नहीं ज्ञान-विषय भी सर्वसामान्य नहीं होते—जटिलतम वैज्ञानिक ज्ञान से लेकर सरलतम ऐन्द्रिक ज्ञान तक। जहां तक सरल ऐन्द्रिक ग्रहणों में पर्याप्त समानता होने का सम्बन्ध है, इस स्तर की चेतना में वास्तव में वैसा मूल्य-भेद भी नहीं होता, ऐन्द्रिक सुखानुभव और उसकी कामना इस स्तर पर सबमें होते हैं। किन्तु वास्तव में ऐन्द्रिक ग्रहण स्वरूपतः विशिष्ट होते हैं, इसलिए इनमें न ज्ञान-विषय सामान्य होते हैं और न कामना-विषय समान होते हैं, यह व्यक्ति-विशिष्टता की पराकाष्ठा का स्तर है। जिस प्रकार नमकीन या मीठे की पसन्द प्रत्येक की निजी होती है उसी प्रकार उनके ग्रहण के संवेद भी निजी होते हैं—दोनों चित्त के संकल्प के अनधीन होते हैं। इसीसे न इसमें कोई युक्ति या विवेक सम्भव होता है कि मीठा अधिक कमनीय है या नमकीन, और न इसमें कि इस दाल में नमक कम है, ठीक है, या अधिक ? किन्तु इसमें युक्ति सम्भव है कि अमुक को नमक का कितना सेवन करना चाहिए, अथवा करना भी चाहिए या नहीं ? इसकी युक्ति-योग्यता इसके एक सार्वभौम नियम का उदाहरण होने के कारण है। किन्तु यह नियम केवल रासायनिक सन्तुलन-विषयक ही नहीं है, यह इसके ऊपर एक अन्य उच्चतर नियम के अधीन है जो मूल्यात्मक है : कि सांवेदनिक सुख कमनीय है, किन्तु शारीरिक स्वास्थ्य श्रेयोमय है, और परिणामतः प्रथम तभी वरेण्य है यदि वह दूसरे का उपकारक हो, अन्यथा वह त्याज्य है। "किन्तु क्यों ?" यहां यह प्रश्न किया जा सकता है और यह एक युक्ति-युक्त प्रश्न है, इस प्रश्न के समान अयुक्ति-युक्त नहीं कि "आपको नमक मीठे से अधिक क्यों पसन्द है ?" अथवा "जबकि मुझे इस दाल में नमक कम लग रहा है तब आपको अधिक क्यों लग रहा है ?"

"क्यों शारीरिक स्वास्थ्य संवेद-सुख की अपेक्षा अधिक वरेण्य है ?" "क्यों मित्र के स्वास्थ्य के लिए अपने शारीरिक स्वास्थ्य की हानि अधिक वरेण्य है ?" अथवा "क्यों मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक वरेण्य है ?" आदि प्रश्न युक्ति-योग्य हैं किन्तु इनके उत्तर देने पर पुनः उन उत्तरों की युक्तता के लिए प्रश्न किया जा सकता है, उसका भी उत्तर मिलने पर पुनः उसके सम्बन्ध में भी वही प्रश्न किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह क्रम अनन्त है; यह क्रम पर्यवसायी है किन्तु इसकी पर्यवसायिता इसकी युक्ति-योग्यता की पर्यवसायिता नहीं है, यह युक्ति की युक्त आधार में पर्यवसायिता है, क्योंकि यह पर्यवसान आत्मप्रातिभ में होता है जो प्रकाशस्वरूप और स्वतःप्रमाण है और परिणामतः जो यौक्तिकता और विवेक का आधार है। यह प्रतिभा सत्ता का अपने से साक्षात्कार है, अपने से यौगपद्य, अपने पर प्रत्यावर्तन। तब क्यों शारीरिक स्वास्थ्य संवेद-सुख से वरेण्य है ? क्योंकि संवेद-सुख की अपनी व्यवस्था, संहति और नियम नहीं है, यह किसी प्रतिमान में प्रतिष्ठित नहीं है, न यह स्वयं कोई प्रतिमान है। इसके विपरीत शारीरिक स्वास्थ्य आवयविक सन्तुलन की सिद्धि है, यह जैव सत्ता का प्रतिफलन है, यह आवयविक संहति के नियम की प्रतिष्ठा

है। सबसे अधिक, संवेद-सुख चित् के अपने पर आवर्तन का वैपरीत्य है, जबकि शारीरिक स्वास्थ्य उसमें साधन-भूत है। किन्तु कहा जा सकता है कि, संवेद-सुख वास्तव में पर-रूप में स्वरूप के निरूपण का एक आधारभूत आयाम है। यह सही है, किन्तु वह तब होता है जब यह किसी व्यवस्था, संहति और प्रत्यय के निरूपण का माध्यम होता है, जैसे ललित कलाओं में; उसके बिना यह स्वरूप-रहित पर-रूपता मात्र होता है—बिखराव, असंहति, और अव्यवस्था।

यहां एक बहुत गंभीर आपत्ति हो सकती है कि "असत् की विद्यमानता" कैसे सम्भव है, सत् असत् को अवकाश ही कैसे देता है ? या कि असत् सत् के तुल्य-बल है और तुल्य रूप से आधार है ? वास्तव में यह प्रश्न विचार के लिए एक कठिनतम पहेली है। जगज्जीवन इस द्वन्द्व का ही महाकाव्य है, और पौराणिक आख्यान इस द्वन्द्व के सबलतम चित्रण हैं। वास्तव में 'प्रतिमान' पद में ही असत् की विद्यमानता की स्वीकृति निहित है, अन्यथा अबाधित सत् में प्रतिमानता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु प्रश्न है कि यह सम्भव कैसे है ? इसका एक उत्तर इसी अध्याय में हमने पीछे दिया है कि, प्रकृति स्वरूपतः आत्म-व्यवधान, सीमा, से अभिन्न है और पर–रूपतः उससे पृथक् और बाह्य। किन्तु तब प्रश्न होगा कि यह पररूपता क्यों है ? दूसरे शब्दों में, सत् में आत्म-व्यवधान, सीमा, पराङ्मुखता क्यों है ? इसके उत्तर दिये गए हैं। एक उत्तर 'लीला' है। किन्तु द्रष्टव्य है कि लीला में कोई सीमा या व्यवधान नहीं है, उसमें व्यवधान स्व–रचित हैं और इस रूप में ज्ञात होते हैं। मनुष्य में व्यवधान स्व-रचित नहीं हैं, उसके लिए पर–रूप मौलिक है। इसी लिए उसके लिए अनात्म मौलिक और उससे स्वतंत्र है।

किन्तु यह एक रोचक बात है कि ऐसा वास्तव में नहीं है। अवश्य मनुष्य में ज्ञानात्मक और मूल्यात्मक भ्रम ठोस रूप में विद्यमान होते हैं, उसके लिए स्वयं अपना चित्त भी पूर्ण पारदर्शी रूप में प्रस्तुत नहीं होता : उसकी अपनी स्मृतियां, प्रयोजन, प्रेरणाएँ, विचार के सभी पक्ष और उसके आपादन आदि उसे प्रस्तुत नहीं होते, अन्य अस्तित्वों पर तो उसका वश होता ही नहीं; ऐसी परिस्थिति में असत् उसके लिए मौलिक हो जाता है, देव-दानव-द्वन्द्व उसके लिए वास्तविक और अनन्त है।

किन्तु यह रोचक बात है कि ऐसा नहीं है, वास्तव में ऐसा केवल प्रकटतः ही है। मनुष्य के लिए असत् दुर्जेय है किन्तु अजेय नहीं है : वह ज्ञान में भ्रांति की सम्भावनाओं को न्यून से न्यूनतर कर सकता है, नीति में भ्रांति की सम्भावनाओं को समाप्त भी कर सकता है, चित्त के अंध गह्वरों को अधिकाधिक प्रकाशित कर सकता है, इतरता को अपनी चेतना में समाप्त नहीं कर सकता, किन्तु इसका अधिकाधिक निवारण इसकी पूर्ण निवारणीयता, असत्ता की पूर्ण निरास्यता को प्रकट करता है—मनुष्य के स्वाभाविक ईश्वरत्व को प्रकट करता है। यहां सबसे बड़ी रोचक बात यह है कि ज्ञान और मूल्य में सदसद् का द्वन्द्व केवल मनुष्य के लिए ही उत्पन्न होता है : क्योंकि केवल वही आत्म-विदित और स्वतंत्र है। भौतिक और जैव प्रकृति सत्ता के तंत्र के अन्तर्गत हैं, उससे नियमित और निर्धारित। इससे उनमें असद्बाधा का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। ईश्वर स्वयं सत्ता का ही उत्कर्ष है इसलिए उसमें भी इस बाधा के लिए अवकाश नहीं रहता, केवल मनुष्य है जो अंशतः आत्म-विदित और अंशतः स्वतंत्र है; यदि वह भी अन्य जीवों के समान आत्म-अविदित ही होता तब वह असद्बाधित नहीं होता, क्योंकि तब वह ईश्वरीय सत् का ही अंग होता।

किन्तु यहां कहा जा सकता है कि अघ और अज्ञान को केवल ज्ञान की सीमितता-जन्य कहना युक्त नहीं है। उदाहरणतः बहुत बार हम जानते हुए भी कि अमुक कार्य अनुचित है, उससे विरत नहीं हो पाते। दूसरे, यदि भौतिक–जैविक प्रकृति स्वतः अबाधित सत् है तब यह आत्म-विदित चित्त में बाधा बनकर क्यों प्रस्तुत होती है? और यदि यह मानवीय चित्त के लिए बाधा है तब यह ईश्वरीय चित् के लिए बाधा क्यों नहीं है?

हमारे विचार में इन प्रश्नों के तत्त्वमीमांसीय समाधान नहीं हो सकते, केवल अनुभव-मूलक समाधान ही सम्भव है, जो यह है कि हम बाधित सत्त्व हैं, यह बाधा अतिक्रमणीय है, और इसका अतिक्रमण हम न्यूनाधिक कर पाते हैं, और यह न्यूनाधिक अतिक्रमण बाधा से पूर्णतः रहित चित्-सत्ता के लिए प्रमाण है। स्वभावतः यह सत्ता बाधित सत्त्व के लिए भाव्य या मूल्य है।

उन्मीलन
जनवरी, १९८६

४

संस्कृति और मानव–इतिहास–१

भारतीय संस्कृति के संदर्भ में कुछ समस्याएं

वीरेन्द्र शेखावत

१. सांस्कृतिक शुद्धतावादी विचारक संस्कृति को एक ऐसी कुमारी की तरह समझते हैं जिसका कौमार्य सांस्कृतिक परंपरा में इतर विचारों के समावेश से भंग हो जाता है। अतः वे संस्कृति पर परंपरा की एक ऐसी 'चेस्टिटी बेल्ट' लगा देना चाहते हैं जो उसके कौमार्य की रक्षा कर सके। अतः अपनी संस्कृति की 'विदेशी विचारों,' विदेशी ज्ञान', 'विदेशी जगद्-दृष्टियों' से रक्षा करना उनके लिए सर्वोपरि मूल्य होता है। इसके पीछे एक ऐसी अवधारणा है जो संस्कृति के स्वभाव व स्वरूप की गलत समझ पर आधारित है। किसी भी प्रकार का नया ज्ञान, विचार या नयी जगद्दृष्टि, बशर्ते कि वे लादे न जाएं, किसी भी संस्कृति के पारंपरिक विचार, ज्ञान या जगद्दृष्टि के लिए घातक नहीं होते अपितु ये एक ऐसी उर्वरक सामग्री का कार्य करते हैं जो उस संस्कृति को अनुप्राणित करने और फलने-फूलने में सहयोग देते हैं। संस्कृतियों के लिए जो कारण घातक होते हैं उनमें अंधी, बर्बर, ज्ञानविहीन, विचारविहीन शक्ति ही प्रमुख होती है और ऐसे ही कारकों से संस्कृति की रक्षा की जानी चाहिए। ये 'बर्बर शक्तियां जब स्वायत्त संस्कृतियों पर अपनी जगद्दृष्टि लादने की कोशिश करती हैं तभी उनमें प्रतिक्रिया, तनाव व विकृतियां उत्पन्न होती हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन ऐसी बर्बर शक्तियों के आक्रमण से भी भारतीय संस्कृति ही क्या अन्य कोई भी स्वायत्त संस्कृति नष्ट नहीं की जा सकती। ऐसे आघात से ये संस्कृतियां एक शीतस्वाप या गहन निद्रा की अवस्था में ही जाती हैं और हज़ारों वर्षों तक ऐसी अवस्था में सुप्त पड़ी रह सकती हैं। अतः यह कहना कि— यूनानोमिश्र, रोमा सब मिट गए जहां से, कुछ बात है जो हस्ती मिटती नहीं हमारी'—भी एक सीमा तक भ्रामक ही प्रतीत होता है। मिश्र, यूनान और रोम एक नवीन और फली-फूली संस्कृति के रूप में यूरोप में आज भी जीवित हैं और उस भूमि पर, जहां उनका बीजारोपण हुआ था, भी अनुकूल परिस्थितियों के मिलते ही वे अपनी अस्मिता या स्वायत्तता को खोज लेंगे और इस्लामी व ईसाई जगद्दृष्टियों के उन लबादों को उतार फेंकेंगे जो उन पर जबरन लाद दिये गए थे। ठीक यही बात हम अत्यन्त प्राचीन संस्कृतियों, जैसे चीन, फारस, व मेक्सिकी एज़टेक के लिए भी कह सकते हैं। भारत और चीन में तो लबादों को फेंकने की यह

प्रक्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है। अतः संस्कृति केवल दो ही अवस्थाओं में नष्ट होती है: जब या तो उसने अपनी अस्मिता और स्वायत्तता की स्थापना ही नहीं की हो (ऐसी अवस्था में यह कहना भी कठिन है कि वह सही मायने में संस्कृति कही जा सकती है या नहीं); या फिर जिस समाज को आश्रय करके वह संस्कृति प्रस्फुटित हुई थी वह समाज अपनी सांस्कृतिक मशाल किसी योग्य और गतिशील और अधिक यौवनमय समाज को सोंपे बिना ही नष्ट हो जाय। इन दोनों में से कोई भी शर्त भारतीय संस्कृति पर लागू नहीं होती, अतः हम निश्चिन्त हो कर इसे अनश्वर और अमर मान सकते हैं। हमारा कार्य केवल यह रह जाता है कि हम जितने अधिक "विदेशी विचारों" की सामग्री प्राप्त कर सकते हैं करें और जुटे रहें, ताकि इसके जीवन में एक नयी शक्ति और स्फूर्ति आ सके। यद्यपि बर्बर शक्तियों से जो आघात हमने झेले हैं भविष्य में उनसे अपने को सुरक्षित कर सकें तो एक सामाजिक उपलब्धि होगी।

२. इन बाहरी कारणों के अलावा क्या किसी स्वायत्त संस्कृति में ऐसे कारण भी हो सकते हैं जो इसकी शक्ति को क्षीण करें, जो इसमें विकार और तनाव उत्पन्न करके इसे मरणासन्नता, क्षीण सर्जनात्मकता की स्थिति में पहुंचा दें? मैं समझता हूं कि भारतीय संस्कृति के अपने इतिहास और वर्तमान अवस्था के संदर्भ में यह एक अहम मुद्दा है। भारतीय संस्कृति अपनी अस्मिता, स्वायत्तता या आत्मबोध की अवस्था को प्राप्त कर चुकी है और इस आत्मबोध या तत्त्व-बोध का विस्तार यह एशिया के अनेक समाजों में भी कर चुकी है। अतः स्पष्ट है कि मानव-इतिहास के भविष्य में यह अपना स्थायी स्थान बना चुकी है। लेकिन जिस भूखण्ड के विशिष्ट समाज को आश्रय करके यह, या कोई भी संस्कृति, जन्म लेती है उस स्थान व समाज विशेष के आश्रित रहते हुए नित्यत्व की कोई अनिवार्यता नहीं हो सकती। इस प्रकार की अनिवार्यता की मांग कुछ ऐसी ही है जैसे यह कहना कि कोई राग विशेष किसी वाद्यविशेष के आश्रित हो कर ही अभिव्यक्त हो सकता है।

परन्तु अनश्वर होते हुए भी किसी संस्कृति का सर्जनविहीनता और शीतस्वाप की अवस्था को प्राप्त हो जाना भी उसका मृतप्राय होना ही है, और इस अवस्था का प्रमुख आन्तरिक कारण यही होता है कि ये संस्कृतियां विचारों के प्राकृतिक प्रवाह से अपने आपको काट लेती हैं। इससे उनकी जगद्दृष्टि का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और वे एक भ्रामक पूर्णता-प्राप्ति का जीवन जीने लगती हैं। सीमित विचारों को पुनः पुनः घोटते रहने से ऐसी संस्कृति केवल लकीर के फकीरों को जन्म दे पाती है और इसके फलस्वरूप वह जगद्दृष्टि, जिसके अनुरूप उस संस्कृति ने अपने समाज को ढाला था और जिसके अनुरूप जीवन जीया था, केवल एक ढकोसला बन कर रह जाती है। दूसरा प्रमुख कारण, जो पहले के फलस्वरूप भी होता है, यह है कि उस समाज की धर्म और अर्थ-व्यवस्था विकृत हो जाती है और चरमरा जाती है। इसके फलस्वरूप यह समाज एक ऐसी नई पीढ़ी को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है जो उस जगद्दृष्टि के उच्चतम आदर्शों और मूल्यों पर चल सके। नई पीढ़ी उन आदर्शों और मूल्यों को महत्त्वहीन समझने लगते हैं जिन्होंने उस संस्कृति को अर्थ दिया था, उसमें प्राण फूंका था। अनुयायियों का यह अभाव उस संस्कृति के सामाजिक और बहुत कुछ जैविक स्थगन और निष्क्रियता के कारण होता है। फलस्वरूप एक ही पीढ़ी के काल में सड़ने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। क्योंकि यदि अनुयायी नहीं हों तो कुछ ही दशकों में वह नेतृत्व भी समाप्त हो

जाता है जो युवकों को यह दिखा सकता है। अतः मैं समझता हूं कि बाहरी हस्तक्षेप के बिना भी संस्कृतियां मात्र अपने ही बोए हुए बीजों से ह्रास की अवस्वा को प्राप्त हो सकती हैं।

यदि इन आन्तरिक कारणों से कोई संस्कृति ह्रास की ओर अग्रसर हो रही है तो उस पर बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप आसान हो जाता है। वह समाज इतना क्षीण हो गया होता है कि उस स्थूल क्षेत्र की रक्षा करने में भी असमर्थ होता है जहां उसके प्राण प्रतिष्ठित हैं, फिर अपने विचारों और कला की उपलब्धियों की रक्षा कर सकना तो दूर की बात है। अन्य समाज, जिन्होंने जगद्दृष्टि की पूर्णता को प्राप्त नहीं किया है, जो अर्धबर्बर हैं लेकिन जिन्होंने साम्प्रदायिक आधार पर अपने आपको संगठित कर लिया है, आत्मबोधमय संस्कृतियों के लिए, विशेषकर ह्रासोन्मुख संस्कृतियों के लिए, घातक होते हैं। ऐसी पूर्ण संस्कृतियों की चरम उपलब्धि अपने आदर्शों और उन मूल्यों की अनुभूति में होती है जो इन्हें मानव-जीवन और उसके वास्तविक अर्थ की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय मानती हैं। लेकिन इन आदर्शों और मूल्यों की प्राप्ति में सफल होना ही इन संस्कृतियों को स्थायी, क्षीणगति, तथा आकांक्षाओं और स्वप्नों से रहित बना देता है। लेकिन साथ ही उन अर्धबर्बर समाजों का उत्थान, जो समाज के जीवन के अर्थ को खोजने के लिए अधिक उत्सुक है, जिनके भिन्न आदर्श और मूल्य हैं, जिनकी जगद्दृष्टि अपूर्ण है, उसे किसी पूर्ण संस्कृति के संपर्क में लाता है जो संपर्क अधिकतर एक आक्रमण के रूप में ही होता है। जब ये अर्धबर्बर समाज इन आत्मबोध-युक्त समाजों को दासत्व की अवस्था में पहुंचा देते हैं तब उस स्वतन्त्र चिन्तन, उस उन्मुक्त जीवन, और उस स्वायत्त जगद्दृष्टि का हनन होता है जिसने उसकी अस्मिता को आकार दिया था। फलस्वरूप एक मानसिक और वैचारिक अराजकता या व्यामिश्र (कन्फ्यूज़न), शक्तिहीनता, अर्थहीनता और कुंठा की अवस्था से गुज़र कर इन संस्कृतियों का ह्रास अधिक तीव्रता से होने लगता है। इस नई स्थिति में अब एक ही स्थान में दो भिन्न समाज रहते हैं। एक अर्धबर्बर, शक्ति, स्फूर्ति और यौवन से भरपूर, अविकसित और अपूर्ण जगद्दृष्टियुक्त, अर्थ व काम-प्रधान, आकांक्षाओं और सपनों वाला समाज तथा दूसरा वृद्ध, जर्जर, ह्रासोन्मुख, आत्मबोधयुक्त, आदर्शों और मूल्यों की अनुभूति-युक्त, नेतृत्वविहीन, अनुयायियों और योजनाओं से रहित समाज। दोनों एक-दूसरे को नहीं समझते, और एक दूसरे को अपने से हीन समझते हैं। फिर भी एक दूसरे को प्रथाओं, आमोदप्रमोद आदि के क्षेत्र में प्रभावित करता हैं। लेकिन इसमें वृद्ध समाज और संस्कृति को ही अधिक हानि होती है। उसके युवक उन आदर्शों और मूल्यों को त्याग देते हैं जिनसे उनकी संस्कृति को अर्थ मिला था। बाहरी समाज इस प्रकार की संशयवादी और स्टोइक मानसिकता को प्रोत्साहित करता है और इस प्रकार लगभग सम्पूर्ण समाज को उच्च शिखर की जर्जर अवस्था से खींच कर अपने धरातल पर ले आता है। अब उस आत्मबोध और उन मूल्यों की अभिव्यक्ति या तो नए आकार ग्रहण करती है या फिर वह यदा-कदा कभी-कभार होने वाली घटना बन कर रह जाती है।

३. जो संस्कृति स्वबोध की उच्चतम उपलब्धि को प्राप्त कर लेती है और उसकी अभिव्यक्ति को एक बौद्धिक तार्किक रूप दे कर विभिन्न दृष्टियों व दृष्टिभेदों को वाद-प्रक्रिया में डाल देती है वह एक सांस्कृतिक स्थायित्व, एक सुक्रमित प्रवाह के जीवन को प्राप्त हो जाती है। यही उसका चिरस्थायित्व और अमरत्व है। इस प्रकार की संस्कृतियों में भारतीय, चीनी

यूनानी संस्कृतियां प्राचीनतम हैं, सम्भवतया फ़ारसी और मेक्सिकीय भी थीं। अतः भारत में यह स्वबोध सर्वप्रथम सांख्य-वैशेषिक जगद्दृष्टि के अन्तर्गत अपवर्ग व मुक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। फिर निब्बाण, कैवल्य, सदाशिव, मोक्ष आदि के रूपों में। चीन में यही आत्मबोध उस ताओ-अनुभूति में अभिव्यक्त होता है जहां बुद्धि सभी विरोधों और द्वन्द्वों से गुज़र कर ठहर जाती है। और यूनान में इसका चरम उस विधाता, या डेस्टिनी, या 'अंतिम कारण' के रूप में अभिव्यक्त होता है जिससे मानव पुनः पुनः हार जाता है। लेकिन आत्मबोध-केन्द्रित यह सांस्कृतिक प्रवाह जब आन्तरिक या बाह्य भौतिक, भौगोलिक व राजनीतिक कारणों से विखण्डित होता है तो संस्कृति अपनी बौद्धिक अवनति अपनी ही आंखों के सामने घटित होते हुए मूक दर्शक की तरह देखती है। इस विखण्डन-काल में मूल्यों के बारे में व स्वबोध के बारे में दृष्टि-भ्रम, स्मृति व बुद्धि का विभ्रंश और सर्जनयोग्यता का सर्वांगीण पतन होता है। जब तक यह संस्कृति उन आन्तरिक व बाहरी विकृतियों का शमन नहीं कर लेती या उन्हें आत्मसात् नहीं कर लेती तब तक उस स्वस्थ प्रवाह को प्राप्त नहीं करती। लेकिन यदि उसका स्वबोध सत्य है, केवल भ्रम नहीं, तो वह अवश्य या तो इन विकारों का निष्कासन या शमन करने में सफल होती है या वह उनको अपने में आत्मसात् करते हुए एक नवीन सर्जनक्षमता व नवीन प्रवृत्ति को प्राप्त हो कर स्वस्थ प्रवाह को उपलब्ध करती है।

संस्कृति की जीवन्तता का यह अर्थ नहीं है कि उसकी सर्जनात्मकता सभी क्षेत्रों में अक्षय रहती है। अपितु वह सर्जनात्मकता बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव-स्वरूप नये रूपों में उभर सकती है या भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विकसित हो सकती है। भारतीय संस्कृति में हम दर्शन के क्षेत्र में चिरन्तन सृजन को पाते हैं। संगीत, नाट्य, स्थापत्य, व मूर्तिकला भी लगभग चिरन्तन रूप में आज भी सर्जित की जा रही हैं। चित्रकला व भित्ति-कला का प्राचीनतम स्वरूप हम अजन्ता की गुफाओं में देखते हैं। विज्ञान (ज्योतिष व आयुर्वेद) बहुत ही ओजस्वी रूप में आरम्भ होकर कुंठित हुए, यद्यपि ये आज भी अपने पुरातन रूप में जीवित हैं। लेकिन दर्शन के क्षेत्र में हम औपनिषदों, बौद्धों व जैनों द्वारा विशद सृजनशीलता की उपलब्धि को पाते हैं जो आज भी सभी आन्तरिक और बाह्य अवरोधों के उपरान्त अक्षुण्ण है। अर्ध बर्बर इस्लाम द्वारा राजनैतिक स्वातंत्र्यहरण के उपरान्त भी हम "भक्ति" में महत् सृजनशीलता का 'नए' रूप में संतों, मंदिरों की नृत्यांगनाओं, संगीतज्ञों आदि के द्वारा पुष्पन पाते हैं। यहां तक कि अर्धबर्बर ईसाई लहर भी, राजनीतिक स्वातंत्र्य-हरण व आर्थिक शोषण के बावजूद, इस सृजनशीलता को नहीं रोक पाती और दर्शन साहित्य, संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, व स्थापत्य के क्षेत्रों में सृजनशीलता के 'नए' प्रयोग व 'नए' उदाहरण प्रस्तुत होते हैं। वर्तमान में भी यह स्वबोध की उपलब्धि किसी भी प्रकार के विज्ञान की विरोधी नहीं है। वहां विज्ञान के महत्त्व को स्वबोध तथा उसकी उपलब्धि की विधि की तुलना में केवल कम आंका जाता है। उसकी एक गौण भूमिका है और वह वहीं तक स्तुत्य है जहां तक स्वबोध की उपलब्धि में वह सहायक हो सकता है। लेकिन क्योंकि अविखण्डित सांस्कृतिक प्रवाह स्वबोध-प्रक्रिया की स्पष्ट अभिव्यक्ति की अनिवार्य शर्त है, अतः विज्ञान की विद्यमनता इस प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी महत्त्वपूर्ण होगा। लेकिन वह कभी भी स्वबोध का स्थान नहीं ले सकता चाहे शक्ति व संपत्ति की उपलब्धि में वह कितना ही कारगर क्यों न हो। अतः स्वबोधजन्य संस्कृति आधुनिक विज्ञान के विकसित रूप को

नकारती नहीं अपितु ऐतिहासिक विसंगतियों से जूझने के लिए इसको एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में प्रयुक्त करती है।

भारतीय संस्कृति की, शीतस्वाप की अवस्था में भी, निरन्तर सृजनक्षमता का मूल रहस्य इसके आत्मबोध में ही है जिससे इसमें अर्धबर्बर समाजों के बाह्य आघातों को झेलने की क्षमता आई। ऐसी संस्कृति जब अर्धबर्बर बाह्य आघातों की प्रबलता को मोड़ नहीं पाती तो उसकी सर्जनक्षमता क्षीण हो जाती है क्योंकि वह एक अवसाद और अंधकार की मानसिक अवस्था में आ जाती है। भारतीय संस्कृति जब इस्लामी आक्रमणों को रोकने में पुनः पुनः असफल हुई तो चौदहवीं सदी में प्रमुखतः "भक्ति" की चेतना का उदय हुआ जो अपने-आप को "ईश्वर के विधान" के समर्पित करती है और अपनी निर्बलता तथा असफलता को स्वीकारते हुए "ईश्वर के संरक्षण" में चली जाती है। यह अवस्था भी एक विशिष्ट सर्जनात्मक प्रवृत्ति की अवस्था है; जहां सर्जन अवरुद्ध व समाप्त हो जाना चाहिए था वहां यह नई दिशाओं में अनेक धाराओं में फूट पड़ता है। यह इसीलिए संभव हुआ क्योंकि भारतीय संस्कृति स्वबोध-युक्त है जिसका किसी भी तरह अवरोध संभव नहीं, जबतक उसमें जीवन-क्रिया विद्यमान है। अतः जहां इस संस्कृति ने अर्धबर्बर इस्लाम के आघातों को सह कर, उसको सामग्री के रूप में प्रयुक्त करते हुए, संगीत व नृत्य में अपनी सृजनशीलता में उपलब्धियां कीं वहीं अर्धबर्बर ईसाई आघातों को सह कर उन्हें पुनः सामग्री के रूप में प्रयुक्त करते हुए यह वर्तमान में अर्थ, राजनीति व अध्यात्म की सृजनशीलता के क्षेत्र में नए आयाम खोज रही है।

४. सृजनशीलता का यह नैरन्तर्य यद्यपि इस प्रतिज्ञा का तो प्रमाण है कि भारतीय संस्कृति जीवित है, अनश्वर व अमर है, लेकिन यह इसको प्रमाणित नहीं करता कि यह ह्रासोन्मुख नहीं विकासोन्मुख है, यह मरणासन्न और विकारग्रस्त नहीं, पूरी तरह स्वस्थ है। इस क्षीण सर्जनशीलता का लगभग एक ही रूप में अभिव्यक्त होते रहना, उन्हीं आकारों को पुनः पुनः घोटते रहना, केवल जीवन के शेष रहने का ही लक्षण है उसकी गतिशीलता, ऊर्ध्वोन्मुखता, और वीर्यवानता का लक्षण नहीं। इस विषय पर अधिक विस्तार से विचार करने हेतु यदि हम भारतीय संस्कृति के इतिहास का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि इस लम्बे इतिहास की व्याख्या कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह लगभग काल-रहित, आदि-रहित इतिहास है। इस इतिहास के प्राचीनतम स्रोत पुराण हैं, इन पुराणों में काल गति करते हुए भी पुनः भूत में मिल जाता है, काल की समुद्र-जैसी विशालता में युग भी पुनः पुनः घुल-मिल जाते हैं। यहां इतिहास अनिवार्यतः अनुभववादी इतिहास नहीं है, शायद यह प्रतिभावादी (इन्ट्यूशनिस्ट) इतिहास है। शायद आनुभविक और प्रातिभज्ञान भी यहां घुलमिल गए हैं। यहां बाह्य प्रमाण और अन्तःप्रमाण का भेद लुप्त हो गया लगता है। जो इस पौराणिक इतिहास का अध्ययन और व्याख्या करना चाहते हैं उन्हें इन दो मिले हुए तत्त्वों को अलग-अलग पढ़ने और देख पाने की क्षमता प्राप्त करनी होगी। उदाहरण के तौर पर 'शिव' कोई एक व्यक्ति नहीं है, उसकी जीवनी किसी एक व्यक्ति की जीवनी नहीं है। न ही 'बुद्ध' कोई एक व्यक्ति है। वह हर मानव जो मानव-इतिहास में जन्म (बन्ध-अवस्था) और मुक्ति की लम्बी प्रक्रिया के दौरान शिवत्व या बोधत्व प्राप्त कर लेता है वह 'शिव' या 'बुद्ध' है। और कोई भी मानव एक या

अनेक जीवनों में मुक्ति की इस प्रक्रिया में जब कोई नया अनुभव जोड़ता है तो वह शिव या बुद्ध के इतिहास को आगे बढ़ाता है। इस प्रकार का इतिहास आनुभविक काल में विकसित नहीं होता, वह उस महाकाल में विकसित होता है जिसमें पुरुष-बन्ध मानव का जन्म है और पुरुष-कैवल्य उसकी मृत्यु है। वेद, उपनिषद् और दर्शन इस महाकालिक इतिहास में पुनः पुनः उत्पन्न और नष्ट होते हैं। अतः काल की अनन्त गहराइयों से उत्पन्न होती हुई यह संस्कृति किसी विशेष महायुग के विशेष युग में मानव की लम्बी यात्रा का एक छोटा सा अंश या पड़ाव है। इसी पड़ाव में हम भारतीय संस्कृति को महाभारत काल में सर्वप्रथम सांख्य-वैशेषिक जगद्दृष्टि का सर्जन करते हुए पाते हैं। शायद रामायण महाभारत से पूर्व का ही ग्रंथ है जहां हम ऐसी किसी जगद्दृष्टि के चिह्न नहीं पाते, केवल मानव-धर्म व व्यवहार का विशद विश्लेषण और आदर्श प्रस्तुतीकरण पाते हैं। वहां मानव का प्रमुख लक्ष्य धर्म, सत्य और शुभ के अधर्म, असत्य और अशुभ पर विजय-अभियान में सहयोग करना है।

सांख्य–वैशेषिक जगद्दृष्टि में हम जीवन की मौलिक समस्याओं का पूर्णतः बौद्धिक और हेतुगत विश्लेषण पाते हैं। वह एक सम्पूर्ण सिद्धान्त है जो परा-सैद्धान्तिक अवधारणाओं और ज्ञानमीमांसीय स्वयंसिद्धों के प्रातिभज्ञानात्मक आधार से आरंभ करके सृष्टि की उत्पत्ति के कारणों और उसके प्रयोजन, उसकी संरचना के मूल तत्त्व तथा मानव के उसमें स्थान की मौलिक समस्याओं का हल प्रस्तुत करता है और यह हल कोरी कल्पना या अटकलबाजी पर नहीं अपितु तर्क और हेतुओं पर आधारित है। सांख्य–वैशेषिक जगद्दृष्टि एक लम्बे काल तक भारतीय समाज का एक निर्देशक सिद्धान्त (पैराडाइम) रही होगी क्योंकि इसी दृष्टि के अन्तर्गत हम व्याकरण-विज्ञान (धातु-प्रकृति), योग-विज्ञान (द्रष्टा-दृश्य संयोग), ज्योतिष-गणित के कुछ सिद्धान्त—जैसे सूर्य-सिद्धान्त, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र आदि का प्रस्तुतीकरण पाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी बौद्ध सिद्धान्त के आगमन और उसके एक समानान्तर निर्देशक-सिद्धान्त के रूप में अपनाए जाने के बाद भी हम इन इतर क्षेत्रों में बोद्धों का विशेष योगदान नहीं पाते। और इसी प्रकार जैन-सिद्धान्त के संदर्भ में भी,—केवल ज्योतिष गणित को छोड़ कर।

सांख्य–वैशेषिक जगद्दृष्टि के अन्तर्गत अति-प्राचीन काल में ही हम मूल्यों का पुरुषार्थ-चतुष्टय के रूप में विभाजन, समाज का वर्ण-चतुष्टय के रूप में विभाजन, तथा आयु का आश्रम-चतुष्टय के रूप में विभाजन किया हुआ पाते हैं। अतः भोग और अपवर्ग ही, जोकि पुरुषार्थ हैं, सृष्टि का प्रयोजन है। धर्म, अर्थ व काम द्वारा भोग होता है तथा मुक्ति ही अपवर्ग है। अतः विचार-सृजन में हम मोक्ष-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थशास्त्र और काम-शास्त्र, इस चार प्रकार के वाङ्मय की उत्पत्ति पाते हैं। अपवर्ग और धर्म सर्वोपरि मूल्य हैं अतः संस्कृति इन्हीं पर मूलतः केन्द्रित है—इस विचार के फलस्वरूप ही मोक्षशास्त्र और धर्मशास्त्र का अभूतपूर्व विस्तार होता रहता है। अपवर्ग और धर्म पर कितना विवाद हुआ और इन्हें कितने विभिन्न रूपों में व्याख्यायित किया गया, यह हमें न्याय–वैशेषिकों, मीमांसकों, बौद्धों (विज्ञानवाद, माध्यमिक), व जैनों के कृतित्व से स्पष्ट हो जाता है। यहां अपवर्ग की कोई एक परिभाषा उपलब्ध नहीं होती और न ही धर्म की। लेकिन दूसरे क्षेत्रों में चाणक्य के अर्थशास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र के अलावा हमें कोई महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। स्पष्टतः

इन क्षेत्रों में विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि शायद यह सोचा गया कि इन क्षेत्रों में मानव **स्वभावतः** प्रवृत्त है। लेकिन यदि हम थोड़ा गहराई से पड़ताल करें तो पाएंगे कि मानव-मुक्ति का केवल मनोमूलक विश्लेषण ही प्रस्तुत किया गया, एक मुक्त समाज का समाजमूलक विश्लेषण नहीं। पुनः, दूसरे क्षेत्रों में भी हमें नितान्त अविकसित धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र ही उपलब्ध होते हैं जिनमें उन समस्याओं के प्रति कोई दार्शनिक जागरूकता दृष्टिगत नहीं होती जिन समस्याओं ने विकासोन्मुख भारतीय संस्कृति को पीड़ित किया और हानि पहुँचाई। इनमें प्रमुखतया वर्ण-चतुष्टय में विकृति, धर्म पर बाहरी कारकों का आघात, अर्थतंत्र में राष्ट्र-चेतना का अभाव तथा अन्याय और शोषण, काम के प्रति एक बृहत् और उन्मुक्त दृष्टिकोण का अभाव आदि की समस्याएं प्रमुख हैं। न ही हम उन विज्ञानों का सर्वांगीण विकास होता हुआ पाते हैं जिनकी शुरुआत इतनी प्रभावशाली और आशाजनक थी और न ही नाट्य, संगीत और स्थापत्य से संबंधित शास्त्रों में कोई अभूतपूर्व विकास देखने को मिलता है। अतः विचारणीय मुद्दा यह नहीं है कि इन 'प्राचीन सम्पत्तियों' की कैसे रक्षा की जाए अपितु यह कि इन क्षेत्रों में चिन्तन को गति दे कर एक विकास-प्रक्रिया की कैसे शुरुआत की जाए? स्पष्टतः, यह शुरुआत "विदेशी विचारों" के प्रति अपनी बुद्धि की खिड़कियां खोल देने से ही होगी क्योंकि वहां इन क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हो चुकी हैं। यद्यपि यह सच है कि अपने घर के सही स्वरूप की पहचान हुए बिना खिड़कियां खोलने से वह हवा हमें उड़ा ले जाएगी।

दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

१

प्रतिक्रियाएं

उन्मीलन के प्रवेशांक पर हमें बहुत लोगों ने प्रतिक्रियाएं भेजी हैं। स्वभावतः यह हमारे लिए बहुत उत्साहवर्धक बात है। दो-तीन अपवादों को छोड़कर इन सबको यह अंक बहुत पसन्द आया और उन्हें इसका सम्पादकीय 'अपने मन की बात' या 'विचारोत्तेजक' लगा। जो इससे सहमत नहीं हुए वे भी इससे उत्तेजित हुए। इसका अर्थ है कि उन्मीलन का प्रकाशन बहुत सामयिक है। कुछ मित्रों को मैंने लिखा था कि मैं इस पत्रिका को एक आन्दोलन बनाना चाहता हूं, इस आन्दोलन का लक्ष्य वैचारिक हिन्दू-स्वराज है जिसका आह्वान प्रवेशांक के संपादकीय में किया गया है। दुर्भाग्यवश यह स्वराज हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ हमारे से क्रमशः दूर ही हटा है। यह पत्रिका चेतना के इस स्वाराज्य की उन्मीलक बन सके, यह हमारा प्रयत्न रहेगा।

यहाँ हम प्राप्त प्रतिक्रियाओं में से ऐसी कुछ की चर्चा करेंगे जो हमारे स्पष्टीकरण की अपेक्षा करती हैं, और उन पर स्पष्टीकरण देंगे। इन प्रतिक्रियाओं में तीन : प्रो० धर्मेन्द्र गोयल की संपादकीय पर, प्रो० दयाकृष्ण की प्रो० गोविन्दचन्द्र जी पांडे के तथा प्रो० नारायण शास्त्री द्राविड़ की डा० प्रेमलता शर्मा के लेख पर पृथक् प्रकाशन-योग्य हैं इसलिए वे पृथक् दी जा रही हैं। वास्तव में डा० वीरेन्द्र शेखावत का लेख भी सम्पादकीय से ही उदीरित है और उसके आरम्भिक वाक्यों में उसी की ओर संकेत है, किन्तु उसका रूप एक स्वतन्त्र लेख का है इसलिए वह उसी वर्ग में संकलित किया गया है। प्रो० गोयल की प्रतिक्रिया का उत्तर साथ ही दिया जा रहा है। शेष दो के उत्तर देने के लिए हम मूल लेखों के लेखकों को अगले अंक में आमंत्रित करेंगे। अन्य कोई भी एक या दूसरे पक्ष से इस विवाद में भाग ले तो हम उसका सहर्ष स्वागत करेंगे। जिनकी संक्षिप्त प्रतिक्रियाओं की यहां चर्चा की जा रही है वे हैं डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० धर्मेन्द्र गोयल, डा० रामचन्द्र गांधी, डा० नवजीवन रस्तोगी, डा० ह० माहेश्वरी, डा० केवलकृष्ण मित्तल तथा श्री पंकज।

प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है कि उन्हें सारे अंक में केवल सम्पादकीय ही विचारोत्तेजक लगा है जिसे केन्द्र बनाकर वे उन्मीलन के जुलाई अंक के लिए अपनी प्रतिक्रिया विस्तार से लिखेंगे। शेष, उन्हें डा० गोविन्दचन्द पांडे का लेख, उनके अन्य लेखों के समान ही, दुस्साध्य लगा, देवराज जी का लेख उपदेशात्मक, डा० प्रेमलता का लेख शोध-प्रबन्ध का भाग होने से अस्वतन्त्र है, प्रोफेसर के० सच्चिदानन्द मूर्ति का लेख नहीं होकर व्याख्यान है।

प्रोफेसर द्राविड़ का लेख तब तक उन्होंने पढ़ा नहीं था। मेरे लेख का उन्होंने उल्लेख नहीं किया, सम्भवतः शिष्टतावश, किन्तु सम्भवतः उस पर उनकी दोनों ग्रापत्तियां होंगी—दुस्साध्यता की भी ग्रौर पुस्तक का भाग होने की भी।

प्रो० द्राविड़ को पांडेजी का लेख पांडेजी से ग्रपेक्षित स्तर का नहीं लगा, डा० प्रेमलता का लेख भी उन्हें पसन्द नहीं ग्राया। प्रो० गोयल ने पत्र लिखने तक पत्रिका पूरी नहीं पढ़ी थी किन्तु जितनी उन्होंने पढ़ी उसमें उन्हें ताज़गी की कमी लगी थी। प्रोफेसर गांधी को ग्रंक ग्रच्छा लगा, संपादकीय का उन्होंने विशेष उल्लेख किया। किन्तु सम्पादकीय में प्रोफेसर राजेन्द्रप्रसाद तथा डा० सत्यपाल गौतम के लेखों[1] पर हमारी टिप्पणी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि "राजेन्द्रप्रसाद जी के लेख में तो भारतीय परम्परा के प्रति बहुत कम समझ प्रदर्शित है ग्रौर गौतम के लेख में भी। उस ग्रंक में सम्मिलित मेरे लेख में श्री रामकृष्ण की एक कहानी के माध्यम से भाषा ग्रौर ग्रंग्रेज़ी के बारे में मैंने कुछ कहने का प्रयास किया है। पर भाषा का प्रश्न ग्रलग से ग्रवश्य उठाना चाहिए। ग्राप एक विशेषांक निकालें इस विषय पर "भाषा भारतीयता ग्रौर मौलिकता।"

डा० नवजीवन रस्तोगी को सम्पादकीय विचारोत्तेजक लगा ग्रौर प्रो० मूर्ति के लेख पर उठाये गए हमारे प्रश्न भी। डा० प्रेमलता का लेख भी उन्हें बहुत पसन्द ग्राया, जिसके प्रसंग में उन्होंने लिखा "मैं समझता हूं कि भारतीय परम्परा के सर्जनात्मक विस्तार में इस तरह के लेखों का बड़ा योगदान है। परन्तु भाषा थोड़ी बोझिल है। 'भाषा ग्रौर विषय' के ग्रन्तर्गत लेखों के जो तीन प्रकार ग्रापने गिनाये हैं उनमें एक चौथा प्रकार भी होना चाहिए। उसे ग्राप 'पुनः सर्जनात्मक', 'पुनर्रचनात्मक' शीर्षक दे सकते हैं।"

माहेश्वरी जी ने मुद्रण में सौष्ठव की दृष्टि से सुधार का परामर्श दिया है। दूसरे, मेरे लेख के ग्रारम्भ में पिछले ग्रध्याय का उल्लेख उन्हें उपयुक्त नहीं लगा। इसके ग्रतिरिक्त उन्होंने लिखा है कि "ग्रापका पृष्ठ ६६ पर पत्रिका की भाषा ग्रौर विषय के ग्रन्तर्गत हिन्दी ग्रौर संस्कृत में ग्रन्तर मानते हुए प्रचलित हिन्दी शब्दों के प्रयोग को वरेण्य कहना मुझे ग्रापके सम्पादकीय में व्यक्त भाव से बेसुरा लगा यद्यपि संस्कृत की ग्रपरिहार्यता को 'कोई उपाय नहीं' कह कर एक मजबूरी की स्वीकृति भी वहां है। क्या संस्कृत-विहीन हिन्दी कोई भाषा है या हो सकता है? क्या संस्कृत-शब्दावली ही हिन्दी का सौभाग्य नहीं है?" डा० केवलकृष्ण मित्तल तथा श्री पंकज को जबकि पत्रिका बहुत पसन्द ग्रायी ग्रौर संपादकीय रुचा उन्हें संपादकीय में "मैली धोती, चोटी, दाढ़ी" ग्रादि से विशेषित पंडितों का गतिहीनता के प्रतीक रूप में उल्लेख उपयुक्त नहीं लगा।

यहां हम संक्षेप में इन प्रतिक्रियाग्रों पर ग्रपने स्पष्टीकरण देंगे। पांडेजी के लेख की दुस्साध्यता के सम्बन्ध में हमारा मत है कि उनका यह लेख बहुत संक्षिप्त रूप में लिखा गया है परिणामतः बहुत सी बातों की ग्रोर केवल संकेत मात्र से काम चलाया गया है। इसलिए यह उन पाठकों के लिए दुरूह नहीं है जो संकेतित प्रसंगों से परिचित हैं। प्रसादजी उन परिचित पाठकों में से ही हैं। जहां तक उनके लेखन की सामान्य दुरूहता का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध

१ दोनों लेख इंडियन फिलासफीकल क्वार्टर्ली, अक्टूबर-दिसम्बर १९८४ में प्रकाशित.

में हमारा विचार है कि कुछ विचारक विचार के उस स्तर पर उससे संम्पर्क स्थापित करते हैं जो हमारे साधारण जीवन के स्तर से बहुत दूर होता है। यह स्तर स्वयं उस लेखक को भी वैसा सहजगम्य नहीं होता, अन्यों के लिए तो, जो उस स्तर पर कभी विचार से साक्षात्कार करते ही नहीं, वह दुरूह होना स्वाभाविक ही है। पांडेजी ऐसे विचारकों में से हैं। उनके लेखन की दुरूहता उनकी लिखने की सामर्थ्य की न्यूनता के कारण नहीं होती।

डा० प्रेमलता का लेख यद्यपि शोध प्रबन्ध का भाग है किन्तु यह उस प्रबन्ध के शेष भाग से स्वतन्त्र है। यह उस प्रबन्ध के नाम 'सांख्य दर्शन में मनुष्य की अवधारणा' और इस लेख के शीर्षक से भी स्पष्ट है। यदि डा० प्रसाद इस लेख को पढ़कर देखते तो सम्भवतः वे डा० रस्तोगी के विचार से अपने को सहमत पाते। डा० प्रेमलता ने सांख्य-सिद्धान्त को उसकी प्राचीन पदावली से मुक्त कर उसे समकालीन, अथवा कहें अपनी सृजनात्मक पदावली में विचारा है। किसी दर्शन का 'सृजनात्मक विस्तार' इस कारण संभव होता है क्योंकि उसका तत्त्व उसकी पदावली से स्वतन्त्र भी ग्राह्य होता है और इस दूसरी पदावली में प्रस्तुत होने पर वह नया आयाम ले लेता है।

जहां तक डा० देवराज जी के लेख का सम्बन्ध है, वह भारत में पर्याप्त व्यापक एक प्रकार की भ्रान्त मानसिकता का अच्छा प्रतिनिधि है। हमारे एक बहुत वरिष्ठ दार्शनिक के माध्यम से व्यक्त उस मानसिकता को प्रस्तुत करना इसलिए उपयोगी है क्योंकि इस प्रकार उसे प्रस्तुत कर उसका निराकरण करना अधिक पुरस्कारक होगा।

देवराज जी समकालीन भारतीय दर्शन पर लिख रहे हैं। किन्तु अपने सारे लेख में वे इस दर्शन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते। उन्हें मनुष्य की सब उपलब्धियों का प्रतिमान पश्चिम में दिखाई दे रहा है और उस प्रतिमान पर वे इस देश का उत्कृष्ट-अपकृष्ट तय कर रहे हैं। उनके लेख की उपदेशात्मकता भी उसी से प्रसूत है। वे न हमारी वर्तमान दार्शनिक परिस्थिति को देख पा रहे हैं, न उसकी संभावनाओं को, और न उसकी निजी आदर्श स्थिति को; वे केवल पश्चिम को पैमाना बनाकर हमारी वर्तमान दार्शनिक परिस्थिति को ऐसे देख रहे हैं जैसे कोई आकाश से धरती को देखता है। मज़े की बात यह है कि उन्हें श्री अरविन्द का दर्शन 'ब्रैड्ले और हेगल के युग' की उपज दिखायी देता है, भारतीय परम्परा का सृजनात्मक विकास नहीं, जो कि वह है। अवश्य ब्रैड्ले और हेगल हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के युग-निर्माता रहे, जिस प्रकार आज मूर, रसल, विट्गेंस्टाइन, राइल आदि हैं; किन्तु वे श्री अरविन्द के लिए भी युग-निर्माता थे, ऐसा सोचना केवल सोचने वाले के सम्बन्ध में ही सूचित करता है, श्री अरविन्द के सम्बन्ध में नहीं। श्री अरविन्द तो खैर बहुत दूसरी बात थे, और भी बहुत से लोग होंगे, विश्वविद्यालयों की व्यासपीठों पर सुशोभित महानुभावों की दृष्टि से परे, जिनके युग इस प्रकार दूसरों से निश्चित नहीं होते। अस्तु, तो श्री अरविन्द देवराज जी के लिए हेगल-युगीन होने के कारण असांप्रतिक हैं और महात्मा गांधी इस कारण सांप्रतिक हैं क्योंकि वे आधुनिक यूरोपीय अनुभववादी युग के अनुयायी हैं। और गान्धी जी का जो इस अनुभववाद से संगत नहीं है वह देवराज जी को स्वभावतः स्वीकार्य नहीं हो सकता। ऐसी बातों में सन्तति-निरोध के लिए इन्द्रिय-निग्रह का उनका विचार एक है। डा० देवराज जी यह नहीं देख पाते कि गांधी प्रस्तुत

ग्रौर ग्रनुभव-सम्मत को ग्रनुसरणीय नहीं मानते थे बल्कि ग्रादर्शानुसार ग्राचरण कर उसकी व्यवहार्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते थे। यह उतना ही इन्द्रिय-निग्रह के सम्बन्ध में सच था जितना सत्याग्रह, स्वदेशी ग्रादि दूसरी बातों के सम्बन्ध में।

गोयल जी को लेखों में ताज़गी की कमी लगी। वे लिखते हैं—"ग्रभी पूरा पढ़ नहीं सका हूं, किन्तु जो पढ़ा उसमें कुछ ताज़गी की कमी लगी।" उन्होंने क्या पढ़ा, ग्रौर जिसमें उन्हें ताज़गी की कमी लगी वह क्यों लगी, यह उन्होंने नहीं बताया। किन्तु हमारे विचार में उनकी यह टिप्पणी युक्त नहीं है। गतांक के सभी लेख पूर्ण रूप में मौलिक हैं ग्रौर परिणामतः नावीन्यपूर्ण हैं। इस नावीन्य का एक प्रमाण यह है कि उनमें न तो पश्चिम की पत्रिकाग्रों-पुस्तकों में लिखी बातों के खंडन-मंडन का पुनः खंडन-मण्डन है ग्रौर न ग्रपने ग्रतीत की यशोगाथा या व्याख्या, उनमें लेखकों के ग्रपने विचारों का विशदीकरण है।

जहां तक डा० गान्धी की टिप्पणी का प्रश्न है, डा० प्रसाद के लेख की प्रशंसा हमने भारतीयता की समझ के लिए नहीं की; वास्तव में डा० प्रसाद उस प्रकार की समझ को समझ ही नहीं मानते, ऐसी उनके लेख की व्यंजना है ग्रौर उसी को लेकर हमने उनकी ग्रालोचना की है। उनका लेख प्रशंसनीय कुछ दूसरी बातों के लिए है जिनके लिए हमने उनकी प्रशंसा की है। डा. गौतम के लेख का हमने केवल वैचारिक स्वराज के सन्दर्भ में भाषा का प्रश्न उठाने के लिए उल्लेख किया है। डा० गान्धी ने भी यह प्रश्न उठाया है ग्रौर वास्तव में वह कहीं ग्रधिक सटीक ग्रौर पैना है। खेद है कि तब हम उनका लेख पूरा नहीं पढ़ पाये थे इसलिए उस ग्रोर हमारा ध्यान नहीं गया। सच बात यह है कि उनका यह सारा लेख मननीय है।

डा० नवजीवन रस्तोगी के प्राचीन भारतीय दर्शन के पुनर्रचना विषयक सुझाव को यहां हम पुनर्रचित करना चाहेंगे: "भारतीय दार्शनिक परम्परा को ग्रतीत में ग्रवरुद्ध ग्रौर विजड़ित नहीं मानकर हमें उससे सजीव संपर्क स्थापित करना चाहिए; जिसका ग्रर्थ है उसमें व्यक्त दृष्टि से, उसके ग्रभिव्यक्ति–वैशिष्ट्य के पीछे जाकर, तादात्म्य स्थापित करना ग्रौर उसके द्रष्टाग्रों के साथ सीधे संप्रेषण स्थापित करना।" निश्चय ही किसी सजीव परम्परा में सहभाग लेने का केवल यही एक ढंग है।

माहेश्वरीजी के मुद्रण के स्तर में सुधार-विषयक परामर्श के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि श्री ग्ररविन्द ग्राश्रम के मुद्रण के स्तर का मुद्रण तो जयपुर में संभव ही नहीं है, किन्तु तब भी उन्मीलन के मुद्रण की, उसकी सीमाग्रों में भी, न्यूनतायें बहुत हैं ग्रौर हमने वे पहले ही देख ली थीं। ग्रब ग्रागे यथासम्भव उनके निवारण का प्रयत्न करेंगे। जहां तक हिन्दी की संस्कृत से ग्रवियोज्यता का प्रश्न है, वास्तव में हमारा वहां वही ग्रभिप्राय है। ग्रनिवार्यता का कथन वहां मजबूरी के रूप में नहीं वास्तविकता के रूप में ही किया गया है। वरेण्यता तो उन लोगों के 'पराक्रम' की कही गई है जो हिन्दी को संस्कृत से पृथक् करने का ग्रसंभव कार्य कर सकने का दावा करते हैं। माहेश्वरी जी ने प्रत्येक ग्रंक में एक लेख संस्कृत में देने का भी सुझाव दिया है जो हमें समीचीन प्रतीत नहीं होता। यह समीचीन होता तो यह हमारे देश के लिए सौभाग्य की बात होती, किन्तु वह सौभाग्य इस देश का नहीं है।

जहां तक मेरे लेख में पिछले ग्रध्यायों के उल्लेख का प्रश्न है, इसमें मैं कोई दोष नहीं

देखता। यदि किसी लेख में अन्यों के लेखों और पुस्तकों का निर्देश विहित है तो लेखक के अपने लेखों का उल्लेख भी विहित है। और अन्य लेखों के निर्देश का अर्थ है कि वह लेख अपने-आप में पूर्ण नहीं है, विचार के व्यापक सन्दर्भ में लिखा गया है। यदि वह संदर्भ लेखक के अपने विचार का है तो वह और अच्छा है, क्योंकि यह उस लेख में व्यक्त विचार के अधिक व्यवस्थित और सुचिन्तित होने का द्योतक है। संभव है मेरी यह युक्ति अयुक्त हो, किन्तु अभी तक मुझे यह युक्त लगती है। सच बात यह है कि मैंने अपने दार्शनिक लेखन में अभी तक अपने को एक लेख में अपनी पूरी बात कहने में असमर्थ पाया है; इसीसे मैंने कभी दर्शन में एक लेख नहीं लिखा, पुस्तकें ही लिखी हैं।

प्रोफेसर मित्तल तथा श्री पंकज ने पंडित वर्ग विषयक हमारे निरूपण की अयुक्तता की ओर जो संकेत किया उसे हम तुरन्त स्वीकार कर लेते यदि हमारा वही अभिप्राय होता। हमारा अभिप्राय वहां 'काशी के उस पंडित' से है जिसे 'काशी के जुलाहे' ने चुनौति दी थी। किन्तु हमारा चित्रण वास्तव में उससे गम्भीरतर स्थिति की ओर भी संकेत करता है जितनी वहां प्रकट है : आज हमारा राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक सब क्षेत्रों का नेतृत्व आरोपित परिस्थितियों के कारण पैर और सिर से रहित उस वर्ग के हाथ में है जो अंग्रेज़ी बोल सकता है, और जिसने अंग्रेज़ी नहीं जानने वाले वर्ग को पीछे के कमरे में बन्द कर दिया है। परिणामतः यह प्रवंचित वर्ग कर्त्तव्य-बोध से रहित, तिरस्कृत और वंचित रहा, और इस स्थिति ने उसे बहुत सीमा तक भीतर-बाहर से दरिद्र बना दिया। किन्तु इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि इस वर्ग में सक्रिय प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं ही नहीं। किन्तु जिन्हें जन्म-मरण के संस्कार कराने तक सीमित कर दिया गया हो और उन संस्कारों के प्रति समाज में कोई सम्मान न हो, अथवा जिन्हें अध्यापक के रूप में कम वेतन और भरपूर तिरस्कार दिया जाता रहा हो, भिषग् के रूप में जो अधिक योग्य होने पर भी कम फीस के अधिकारी माने जाते रहे हों और जिनके शास्त्र की आगे प्रगति अवरुद्ध कर दी गई हो, वे यदि ध्वंसावशेष मात्र रह जांय तो इसमें दोष किसका है ? यह एक महान विडम्बना है कि जबकि बाह्य अस्तित्व का एक ही आयाम : समाजः ऐसा है जो नैतिक युक्ति में प्रतिष्ठित है, उसके लिए भी यह प्रतिष्ठा एक असाध्य आदर्श ही बनी रहती है, वास्तविकता उसकी भी अधिकांशतः पाशव नियमों से ही शासित होती है।

अन्त में हम अपनी प्रतिक्रिया भेजने वाले इन तथा अन्य सब मित्रों के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि वे आगे भी इस पत्रिका के साथ अपना सक्रिय सम्बन्ध बनाये रखेंगे।

संपादक

उन्मीलन
जनवरी, १९८६

२

उन्मीलन के प्रवेशांक के संपादकीय पर एक प्रतिक्रिया

मैं जैसा आपके मन्तव्य को समझा हूं, आपके अनुसार 'भारतीयता', 'भारतीय दृष्टि' तथा उससे जुड़ी 'सांस्कृतिक अस्मिता' को अक्षुण्ण रखने का दायित्व हर भारतीय मूल के व्यक्ति पर लाज़मी तौर पर है। आप इसे स्वयं व्यक्ति की अपनी रचना की अपरिहार्य धुरी मानते हैं। व्यक्ति, कलाकृति, या किसी सामाजिक संस्थान की अस्मिता में प्रायः काफी स्तर-भेद होते हैं, उन्हें इकसार किया जाना घपलों को ही बढ़ायेगा।

इस अस्मिता की रक्षा और पल्लवन-प्रक्रिया की नकेल थामने का दायित्व आप प्रथमतया दर्शन के विद्यार्थी और चिन्तक पर ठहराना चाहते हैं, यद्यपि साहित्यकारों तथा अन्य संस्कृति-कर्मियों से भी इस भारतीय अस्मिता के मूल स्वर (पृष्ठ ४, अनुच्छेद २) को उजागर करने, उसे अभिव्यक्ति देने की आप अपेक्षा करते हैं।

१. मैं यहां संक्षेप में अपनी प्रतिक्रिया लिखना चाहता हूं, इसीलिए मैं जानना चाहूंगा कि (क) इस मौलिक दृष्टि का स्वभाव क्या है और कहां पाया जा सकता है? (ख) साथ ही मैं यह भी पूछना चाहूंगा कि स्वयं इस अस्मिता और मूल दृष्टि पर युग-धर्म के बदलते सन्दर्भों में प्रश्नचिह्न लगाना क्यों अनुचित होगा? उदाहरणतः 'निर्वाण' और 'कर्मवाद' ही क्यों भारतीय मानस की रचना में इतने आधारभूत बने रहें, क्या वास्तव में इनकी आवश्यकता अपरिहार्य है? क्यों इन्हें भारतीय व्यक्ति के सहज कृतित्व एवं आत्म-स्वातंत्र्य का अनिवार्य परम लक्ष्य माना जाय?

२. दूसरी बात मैं कहना चाहूंगा कि भारतीय संस्कृति, परम्परा एवं उसकी अजस्र अस्मिता कहां तक स्पष्ट, निर्विवाद और एकरूप पायी जा सकती है? क्या ऋग्वेद से शल्यजी तक उसमें एकसूत्रता ढूंढी जा सकती है?—मेरे विचार में, ठोस तथ्यों के आधार पर आप और अन्य परम्परा-पोषक यह बात सिद्ध नहीं कर सकेंगे, हां फतवेबाजी चाहे जितनी करलें।

३. मैंने कई स्थानों पर अवलोकन-विवेचन से यह निष्कर्ष स्पष्ट किया है कि बुद्ध, मनु, कालिदास, कबीर, नानक, तुलसीदास, ग़ालिब या मुंशी प्रेमचन्द भी समूचे हिन्दोस्तान की संस्कृति के पैमाने नहीं हैं, न कभी किसी भी समसामयिक चेतना में ऐसे पाये गए हैं। निस्संदेह इसमें भारत की आत्मा स्वरित हुई थी, खण्डशः ही। सम्भव है मानवीय मूल्यों के अन्वेषण के लिए

समूची मानव-जाति ने इनसे बहुत कुछ सीखा हो। कोणार्क, खजुराहो, अजन्ता, देवदासी, कत्थक नृत्य, सामन्तशाही भी हमारे ही देश की मिट्टी की उपज हैं। दयानन्द और इकबाल पंजाब की, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और नीरद चौधरी बंगाल की। पर इन सबसे उन हज़ारों कबीलों में बँटे उराव, मिज़ो, भिल्ल, खासी, संथाल, नागा, मुंडा आदि जनजातियों के लाखों लोगों, या सर्वहारा, अन्तहीन शोषण से अनादिकाल से उत्पीड़ित खेतिहर समाज के असंख्य सदस्यों तथा शूद्रों और बंधुवा मजूरों को क्या लेना-देना है? न उनकी कोई साझेदारी इस अभिजात भारतीयता से है, और न उनका कोई परिचय। यह अस्मिता न कल उनकी थी, न आज है, और न आने वाले कल ही उनकी हो सकेगी। वे उससे बाहर हैं।

४. सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी तक भारतीय परम्परा के ठेकेदार काशी के पंडित स्वयं मीरा, कबीर और तुलसीदास तक को कवि या सन्त भी नहीं मानते थे। उनमें आर्य्य-बोध किस आचार्य को दीख पड़ा था उस काल-खण्ड में? समय को हमने कब जीना सीखा है, श्रीमन्! हमारी अस्मिता हमारे भटके मन को संकट में कब मार्ग दिखा सकी है? दुर्दान्त काल हमें लीलता रहा है, बस!

५. फिर हमारे सहोदर, हमारे समाज के अंग, मुसलमान, क्रिश्चन, सिक्ख, बौद्ध, जैन जिसे अपनी विशिष्ट अस्मिता ठहराते हैं क्या उन्हें व्यापक भारतीयता के समानान्तर अन्य परम्पराएँ ठहराएँ? या फिर उन्हें केवल मूल अस्मिता का एक स्थानीय प्रतिबिम्ब मानें?

६. दक्षिण, पूर्वांचल, सुदूर गुजरात, अथवा मध्य देश से गुजरते हुए वस्तुनिष्ठ जैविक आधारों पर "मूल भारतीयता का प्रामाणिक प्रतिमान" न हमारे पास हिन्दी में प्राप्त हुआ है आज तक, और न कभी पहले संस्कृत, पाली, फारसी, उर्दू या अंग्रेज़ी में घड़ा जा सकता था। अफसोस, स्थिति लांगडांट में काफी बिगड़ चुकी है। आपने हिन्दी में लिखने को लेकर जो मुद्दे उठाये हैं वे सार्थक हैं, किन्तु मेरा नम्र निवेदन इस संदर्भ में इतना ही है कि मुझे आज़ाद हिन्दोस्तानी मानस की लेखनी और सोच की स्वायत्तता उतनी ही प्यारी है जितनी मेरे सहधर्मी को होगी। पर मैं अपनी सोच-समझ और विवेक को किसी गरिमाशील पांडित्य एवं पांडुलिपियों में बांध रखने के लिए सहमत नहीं हूं। शास्त्र और शास्त्रीयता, एवं पोथी-वाचक के रोज़गार भी बनते प्रायः पहचाने जाते रहे हैं। निज की तलाश को इनसे क्या लेना-देना? यह तनाव सतत बना रहेगा ही।

७. अब आखिरी बात। दर्शन की परिभाषाओं को लेकर आप जिस सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को सही प्रमेय मानते हैं, मेरे लिए वह एक दृष्टि मात्र है जिसके विकल्प अनिवार्यतया निष्फल नहीं हैं। यह ठीक है कि हमारा परिवेश, युग, काल-बोध बहुत सारा मसाला देता है जिससे हमारी निजी वैयक्तिक अस्मिता रचती-बिंधती है और रूपायित होती है। दर्शन का चिन्तन एवं समीक्षा भी तदनुसार हमारी सामाजिकता के पूर्वाग्रहों से प्रसवित होती है। ऐसी अचिन्त्य पूर्वमान्यताएँ वैचारिक रचनाओं में ढूंढी जा सकती हैं। फिर भी, इस सारी सांस्कृतिक विशिष्टता के रहते हुए भी दर्शन, समीक्षा, मनन, को कहीं गहरे, सहज परिकल्पनाओं की जड़ों तक, उतरना होता है। दर्शन में यह समीक्षा सांस्कृतिक पूर्वमान्यताओं और व्यक्तिगत अभिरुचियों से उत्पन्न उपाधियों के आधार में जाकर अनुपहित सत्य को देखने का प्रयत्न

करती है। इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए चिन्तक को संस्कृति-निरपेक्ष प्रत्यय बुनने होते हैं। दर्शन की रचनाएं, व्याख्याएं, समीक्षाएं विचारक के युग के मनोवेगों, मुहावरों और मुखौटों के द्वारा ही संस्कारित होती हैं, दर्शन इनका उपयोग इनसे परे के तत्त्व के साक्षात्कार के लिए करता है। प्रत्यय का अन्वेषण इन मूर्त्त अभिव्यक्ति-रूपों की ऐतिहासिक स्थितियों में रहकर भी सार्वभौमिक होने पर ही सार्थकता पाता है। यदि ऐसा न हो तो दर्शन और मनोविकार-जन्य प्रलाप में भेद ही मिट जाएगा। उदाहरणार्थ न्याय के 'पदार्थ' और अरस्तु की कोटियां (केटेगरीज़), अथवा विरोध का सिद्धान्त प्रायः दो सुदूर संस्कृतियों से उद्भूत होकर भी तत्त्वार्थ के सार्वभौम रूपांकन के ही प्रयत्न हैं, इसीलिए वे प्रामाणिक दर्शन हैं।

धर्मेन्द्र गोयल
दर्शन विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ १६००१४

३

प्रोफेसर गोयल के आक्षेपों के उत्तर

१. मैंने संपादकीय में भारतीय अस्मिता को मोक्ष, निर्वाण या कर्मवाद से निरूपित नहीं किया है, यद्यपि अन्यत्र[1] ऐसा भी किया है। ऐसा प्रसंग–भेद के कारण है और प्रसंग कभी-कभी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यदि प्रोफेसर गोयल उस प्रसंग में प्रश्न उठायें तो उसका उत्तर तदनुसार ही दिया जाएगा, इस प्रसंग में मैं दूसरी बात कहना चाहूंगा और वह यह कि किसी अस्मिता के लिए जितना स्व होना आवश्यक होता है उतना ही आवश्यक अ-स्व का व्यावर्तक, उसका निवारक, होना भी होता है। हम प्रायः ही इतर में आत्म को खोये रहते हैं और यह स्थिति हमें अप्रामाणिक बनाती है। यह जितना वैयक्तिक स्तर के लिए सही है उतना ही सामाजिक स्तर के लिए भी सही है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मालोचन, आत्म-शोधन के लिए कोई स्थान नहीं है; वास्तव में आत्मग्लानि के लिए भी स्थान है। इसलिए किसी संस्कृति द्वारा अपने निष्कर्षों, धारणाओं और विश्वासों पर प्रश्नचिन्ह स्वीकार नहीं करने का तो कोई औचित्य ही नहीं है। इसके अतिरिक्त, मैंने संस्कृति को अतीतोन्मुख

१ द्रष्टव्य हमारा लेख "भारतीय संस्कृति के आधार, वर्तमान संदर्भ", भारतीय संस्कृति, दर्शन एवं सभ्यता, सं० युयुत्सु, गौतम, पुस्तक में; प्र० अंगिरा शोध संस्थान, जींद, १९८४.

के विपरीत भविष्योन्मुख कहा है, स्वभावतः इसमें युग-सन्दर्भों के परिवर्तन के साथ सामंजस्य भी संगृहीत है। इसके अतिरिक्त, किसी भी परम्परा में किसी समय कोई विचार ऐसा नहीं होता जिसका खंडन उसी परम्परा में नहीं होता; सो वह निर्वाण और कर्म के सिद्धान्त का भी हुआ और उसी समय हुआ जिस समय इनका प्रतिपादन हुआ। यह द्वन्द्वात्मकता किसी भी जीवित परम्परा के लिए स्वाभाविक है और उसकी समृद्धि के लिए अनिवार्य। इसे परम्परा का आत्मविचार, निर्णय पर पहुँचने से पहले का ऊहापोह, भी कह सकते हैं। तब यदि आज आप निर्वाण आदि पर सन्देह प्रकट करते हैं तो उससे परम्परा को कैसे क्षति पहुंचेगी ? इससे केवल उसकी प्रासंगिकता ही प्रकट होगी।

किन्तु 'बदलते युग–सन्दर्भ में प्रश्नचिह्न लगाना' पद एक गहरी भ्रान्ति को प्रकट करता है। यदि मैं कहूँ कि दार्शनिक दृष्टि शाश्वत होती है तो गोयल जी जैसों को भयानक आपत्ति होगी, यद्यपि गोयल जी अपनी अन्तिम आपत्ति की व्याख्या में प्रकारान्तर से यही कह रहे हैं। अन्यथा भी, औपनिषद्-दृष्टि, कि "परम पुरुषार्थ मोक्ष है और परमार्थ का स्वरूप मोक्ष या ब्रह्म है," अथवा अन्य इसी प्रकार की दृष्टियां परिवर्तित युग-सन्दर्भों में अपने नये आयाम तो प्रकट करती हैं किन्तु अप्रासंगिक नहीं हो जातीं। इन परिवर्तनों के साथ यदि वे अप्रासंगिक हो जाँय तो 'दृष्टि' और 'रुचि' में कोई भेद नहीं रह जायगा।

२. अस्मिता की एकरूपता भारतीय संस्कृति में ही क्यों, किसी भी संस्कृति में अजस्र और एकरूप नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि यह किसी व्यक्ति में भी एकरूप नहीं पायी जाती। वास्तव में अस्मिता की एकरूपता नहीं, एकता अपेक्षित होती है जो व्यक्ति में संस्कार-शृंखला-मूलित और संस्कृति में परम्परा-मूलित होती है, और दूसरी ओर इतर-व्यावृत्ति में मूलित होती है। इस प्रकार गोयल जी की अस्मिता का एक घटक होगा अ-गोयल नहीं होना। यह व्यावृत्ति व्यक्तित्व के गठन में आत्मप्रामाणिकता–आत्म-अप्रामाणिकता की मनःस्थितियों के लिए हेतु बनती है। कुछ लोग होते हैं जो दूसरों से प्रभावित होकर उनकी तरह हाव-भाव तक करने लगते हैं, अपने विचार आदि अपने अनुभव के बजाय दूसरों के विचारों के अनुसार स्थिर करते हैं। यह व्यक्ति की आत्म-अप्रामाणिकता होती है। अन्यों से सीखना या प्रभावित होना यदि आत्म-दृष्टिमूलक हो तब वह प्रामाणिकता का लक्षण ही होता है और मानसिक विकास का हेतु होता है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा अंग्रेज़ों के आने से पहले अन्य संस्कृतियों के साथ इसी प्रकार के प्रामाणिक सम्पर्क में थी और अंग्रेज़ों के आने के बाद आरम्भ में बहुत कुछ इसका यही सम्बन्ध यूरोपीय संस्कृति के साथ भी था। किन्तु पीछे, विशेषतः राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद, भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने यह आत्म-प्रामाणिकता खो दी। इसमें अंग्रेज़ी भाषा का योगदान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है : राजनीतिक स्वतन्त्रता से पहले अंग्रेज़ी में अधिकांश वैचारिक लेखन या तो अपने पर यह सिद्ध करने के लिए हुआ या यूरोपीयों पर कि "हम गये गुज़रे नहीं हैं। जो इस बात से सिद्ध है कि हमारे यहां भी यूरोप के समान विचार हुआ है। अथवा, जो भिन्न विचार हुआ है वह यूरोपीय विचार का पूरक है–यूरोप का भौतिकवाद और भारत का अध्यात्मवाद दोनों मिलकर पूरे 'एक' का निर्माण करते हैं, स्वयं में ये अधूरे हैं।" किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद हमने उतनी आत्मा भी खो दी और यूरोप को अपने लिए प्रमाण बना लिया, जैसाकि पीछे हमने देवराज जी के लेख के प्रसंग में देखा।

यहां एक और दृष्टिकोण का उल्लेख स्थाने होगा : प्रोफेसर दयाकृष्ण ने अपनी एक टिप्पणी[२] में भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं से स्वतन्त्र अपनी निजी दृष्टि के विकास का सुझाव दिया है। उनकी युक्ति मूलतः यह है कि "क्यों कोई अपने को किसी एक संस्कृति में सीमित करे ?" दूसरी युक्ति यह है कि "यूरोप में विज्ञान और गणित के क्षेत्र में बहुत त्वरित प्रगति हो रही है और दूसरे देशों के विचारक उसके अनुसरण में भी कठिनाई अनुभव करते हैं, और यह विकास मानव-शास्त्रों के चिन्तन को भी प्रभावित करता है।" अर्थात् इस कारण हमारे लिये मानव-शास्त्रों में पश्चिम का अनुसरण अनिवार्य हो जाता है। इससे पहली युक्ति जो दया जी की टिप्पणी में पहली नहीं होकर निष्कर्ष है, वास्तव में दूसरी युक्ति के अधीन है और हमारे विश्वविद्यालयों का बुद्धिजीवी वर्ग अपने पश्चिमानुधावन के लिए यही औचित्य अपने मन में देखता है। किन्तु क्या कोई यह बता सकेगा कि विज्ञान या गणित में कौन सी नई खोज दार्शनिक निष्कर्ष को प्रभावित करती है ?

परम्परा मात्र का अतिक्रमण, असंस्कृत मनस्ता की उपलब्धि, यह तो वास्तव में ही उत्कृष्टतम स्थिति है और स्वराज की परमता हैं, किन्तु यह योग द्वारा सिद्ध हो सकती हो तो हम कह नहीं सकते, अन्यथा तो यह साध्य नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परम्पराओं के परे जा कर उन्हें परखना संभव नहीं है; अवश्य है, किन्तु वह किसी परम्परा के माध्यम से ही हो सकता है। यौगिक सिद्धि भी परम्परोपरान्त की स्थिति ही है, मौलिक असंस्कृतता तो बंद कमरे में उत्पन्न होने और वहीं बड़ा होने पर ही हो सकती है जो पशु से भी निम्न स्तरीय मानसिकता, अथवा कहें अमानसिकता में प्रतिफलित होती है। दया जी का कहना है कि हमारे लिए साध्य भारतीय-पाश्चात्य किसी परम्परा से बंधे बिना उनके ज्ञान-पूर्वक उनका अतिक्रमण होना चाहिए। किन्तु यह परम्परा की विषयात्मकता और विषयि-आत्मकता में भेद की ओर ध्यान नहीं देने का सूचक है। इन अतिक्रमणवादियों का यथार्थ यह है कि इनकी विषयिता : दृष्टि : क्षीण और विषय-बोध अपर्याप्त है और उसका परिणाम स्वभावतः आत्म-विच्छेद और अनात्म-अविच्छेद हो रहा है। दया जी की **पुलिटिकल डेवेलपमेन्ट** पुस्तक एक ओर, उनके भारतीय दर्शन विषयक लेख दूसरी ओर इस मानसिकता के बहुत अच्छे निदर्श हैं। अपनी इस पुस्तक में, जैसे कि अपनी दूसरी पुस्तकों में भी, वे प्रत्येक वाक्य में पाश्चात्य विचारकों के साथ संवाद में हैं और भारतीय दर्शन विषयक लेखों में वे बाहरी आलोचक हैं, वैसे आलोचक नहीं जैसे बुद्ध, अजित केशकंबली या मक्खलि घोषाल अपनी परम्परा के थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि दया जी ऐसे कुछ विरले विचारकों में से हैं जो स्वभावतः मौलिक होते हैं।

गोयल जी अपनी तीसरी आपत्ति में वास्तव में अतर्कित रूप से वह कह जाते हैं जो हमें कहना अभीष्ट है। यहां वे 'भारत की आत्मा' की बात कर रहे हैं। इस पर उनकी शिकायत है कि वह बुद्ध या कालिदास आदि-आदि किसी में निष्कल रूप से स्वरित नहीं हुई है। बिल्कुल ठीक ! कभी कोई एक व्यक्ति, अथवा अंग-समुदाय, अथवा किसी एक युग में सम्पूर्ण समुदाय भी, किसी संस्कृति के तत्त्व को उसके सम्पूर्ण विस्तार और गंभीरता में कैसे व्यक्त कर

२. इंडियन फिलासीकल क्वार्टर्ली, अक्तूबर-दिसम्बर १९८४, पृ. ५६३-६५.

सकता है ? वास्तव में इस प्रश्न पर गहराई से विचार करें तो हम पायेंगे कि किसी एक विचार के तत्त्व को भी कोई एक व्यक्ति पूर्णतया ग्रहण और व्यक्त नहीं कर सकता-न नागार्जुन ने मध्यमक विचार के तत्त्व को किया था और न शंकर ने अद्वैत के विचार के तत्त्व को, तब एक व्यक्ति द्वारा किसी संस्कृति के तत्त्व को उसके पूर्ण विस्तार और गांभीर्य में ग्रहण और व्यक्त करने का तो फिर प्रश्न ही कहां रह जाता है। मुख्य बात **'भारत की आत्मा'** का होना है, जिसे यदि आप स्वीकार करते हैं और उसे स्वरित करने की योग्यता को वरेण्य मानते हैं, तो आप वही कह रहे हैं जो मैंने कहा है ।

अब रही भारत के निवासियों में से बहुत बड़ी संख्या के इस संस्कृति से विहीन होने की बात। कोई संस्कृति न तो भौगोलिक क्षेत्र से परिभाषित होती है, न उस क्षेत्र के निवासियों से, इसके विपरीत क्षेत्र और निवासी उससे परिभाषित होते हैं। किन्तु तब यह कहा जा सकता है कि किसी संस्कृति को 'भारतीय' कहने के लिए आवश्यक है कि वह भारत के अधिकांश निवासियों को परिभाषित करे जबकि परिस्थिति यह है कि यह केवल हिन्दुओं के ही मुख्य भाग को परिभाषित करती है, मुस्लिम, ईसाई और बहुत से आदिवासी इससे नितांत अछूते हैं। तब हिन्दुओं की बहुसंख्या की संस्कृति को 'भारतीय संस्कृति' कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर होगा कि हिन्दुओं के मुख्य भाग को परिभाषित करने वाली संस्कृति को ही इस क्षेत्रके नाम से विशेषित करने का औचित्य यह है कि यही परम्परा इस क्षेत्र के अधिकांश लोगों को परिभाषित करती रही है और बाहर से आने वालों को प्रभावित करती रही है, और यही समुदाय सन्तति-क्रम से इस भू भाग से सम्बन्धित है। किन्तु इस व्याख्या से दूसरे बहुत से प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जैसे एक प्रश्न यह कि "तब क्या भारतीय मुसलमानों की संस्कृति को अभारतीय कहा जाय ?" इसका हमारा उत्तर होगा कि उस संस्कृति को भारतीय तो नहीं कहा जा सकता किन्तु 'भारतीय-मुस्लिम संस्कृति' कहा जा सकता है। किन्तु यहां इस प्रश्न पर अधिक विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता।

४. चौथे प्रश्न का इतना ही उत्तर पर्याप्त होना चाहिए कि 'काशी के पंडित' मृत परम्परा के वाहक थे : अधिक उपयुक्त होगा यदि कहा जाय कि वे 'परम्परा के मृत वाहक' थे और 'काशी का जुलाहा' जीवित परम्परा का, अथवा कहें परम्परा का जीवित वाहक था। संपादकीय में हमने भी इन पंडितों को इसी मृत्यु का प्रतीक कहा है ।

५. इसका उत्तर ऊपर दे दिया गया है। यहां केवल इतना और कहना है कि सिक्ख, बौद्ध और जैन को मुस्लिम और ईसाई के साथ गिनना भयानक भ्रांति है। इनकी तो बात ही क्या, चारवाक और अजित केशकंबली भी भारतीय संस्कृति के वाहक गिने जायेंगे, क्योंकि वे परम्परा की द्वंद्वात्मकता में प्रतिप्रतिज्ञा के प्रतिनिधि हैं। किन्तु सिक्ख, बौद्ध और जैन तो वास्तव में प्रतिज्ञा-पक्ष के अंतरंग प्रतिनिधि हैं।

६. इसमें वास्तव में दो प्रसंग हैं, इनमें एक है भारत की एकता की वास्तविकता में संदेह। मानलें कि स्थिति ऐसी ही है। तब इससे हमारा कौन सा कथन असत्यापित होता है ? बल्कि यह जाति के रोग का लक्षण है जिसके कारणों में से मुख्य वह है जिसके सम्बन्ध में हमने अपने संपादकीय में अभियान का आह्वान किया है।

जहां तक दूसरे प्रसंग का प्रश्न है, गोयल जी शायद कहना चाहते हैं कि अंग्रेज़ी में लिखने से वैचारिक स्वातंत्र्य अनिवार्यतः समाप्त नहीं होता । श्री अरविन्द और दूसरे कुछ लोग इसके उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत भी किये जा सकते हैं। मैं यह स्वीकार करता हूं । किन्तु द्रष्टव्य है कि श्री अरविन्द के लिए अंग्रेज़ी झरोखा नहीं थी, केवल एक साधन थी । फिर यहां बात व्यक्तियों की नहीं, समाज की है जिसमें अपवाद भी हो सकते हैं । किन्तु गोयल जी इसके अपवाद हैं या नहीं इसे देखने के लिए गोयल जी को अपनी जांच इस कसौटी पर करनी चाहिए कि वे विट्गिंस्टाईन, राइल, स्ट्रासन, कार्नप आदि से कहां तक मुक्त हैं । मैं तो देखता हूं कि हमारे अधिकांश मित्रों ने विस्टिंगस्टाइन के 'फेमिली रिज़्जेंलेंसिस' पद के प्रयोग के बाद विशेष और सामान्य के प्रश्न पर विचार करना ही छोड़ दिया, इसी प्रकार उन्हें 'डिस्क्रिप्टिव मैटाफिज़िक्स' और 'घोस्ट इन दि मशीन' आदि पदो ने अभिभूत किया । यहां कहा जा सकता है कि यह परायत्तता तो स्वयं यूरोप के विचारकों में भी उतनी ही देखी जाती है और हमारे यहां भी वैसी ही प्राचीन समयों में थी । यह बिल्कुल सही है किन्तु इन परायत्तताओं में मौलिक भेद है; एक व्यक्तिगत है और दूसरी जातिगत, एक में महाजनानुसरण है और दूसरे में परजनानुसरण, और यह दूसरा अनुसरण इस भेद से निरपेक्ष होता है कि वह जन या बात महान है या नहीं ।

७. इसमें गोयल जी ने हमारा मंतव्य दर्शन की संस्कृति-सापेक्षता मानकर उसके संस्कृति-निरपेक्ष होने की बात कही है, किन्तु तब आप मोक्ष, निर्वाण, कर्मवाद आदि के विरुद्ध युग-संदर्भ–विपरीतता की बात क्यों कहते हैं ? मैं दर्शन का अन्वेष्य, अन्य सब शास्त्रों के विपरीत निरपेक्ष और निरुपाधिक को ही मानता हूं, किन्तु हमारा अन्वेषण देश, काल और संस्कृति का सापेक्ष होता है । स्वयं संस्कृतियां भी निरपेक्ष के सापेक्ष अन्वेषण हैं । किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारी यह सापेक्षता आज अपनी नहीं है, हम दूसरों की सापेक्षताओं को अपनी मान रहे हैं । यह वैसी ही स्थिति है जैसी तब होती यदि हम अपनी घड़ियों की सूइयां इंगलैंड के समय अनुसार करते ।

संपादक

४

तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन, कुछ समस्याएं

तत्त्वमीमांसा के जन्म और निधन के बारे में जो पांडेजी ने लिखा है, उस पर न उन्हें और न किसी और को कोई आश्चर्य होना चाहिये। अधिकतर लोग तो ऐसा मानते ही हैं कि जिसका जन्म होता है उसका निधन अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि भारत में कुछ दार्शनिक परंपराएँ यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं कि जिसका नाश होता है उसका जन्म भी आवश्यक है। अविद्या, वासना, अज्ञान, माया आदि को अनादि मानने पर भी अनन्त नहीं माना गया। तार्किक दृष्टि से यह कहां तक उचित है, इसकी चर्चा हम यहां नहीं करेंगे।

परन्तु जिसका निधन होता है, उसका क्या फिर जन्म नहीं होता ? भारतीय परंपरा में यह दूसरा विचार भी शायद इतने ही मूलरूप में मान्य है जितना कि पहला। 'संसार' का अर्थ ही शायद यह है—जन्म, मृत्यु और फिर जन्म, और इसकी चिरंतन शृंखला। "रूपं, रूपं प्रतिरूपो बभूव" कहने वाले दार्शनिक का भी शायद यह आशय होगा क्योंकि अनेक रूपों में विभक्तता केवल देश में ही नहीं होती। देश से भी अधिक, वह तो काल में ही होती है। पॉडेजी ने भी लिखा है कि प्राचीन वेदान्त और सांख्य में मूल अथवा उपादान के रूप में ही तत्त्व अवधारित है और यह भी विश्वास है कि विश्वास के नाना पदार्थ एक ही उपादान के परिणाम हैं।" (पृ० ११) "परिणाम" और उपादान शब्दों के प्रयोग से, यदि उनको शुद्ध दार्शनिक अर्थ में लिया जाये तो, अनेक समस्याएं खड़ी होती हैं। परन्तु यदि हम उनकी ओर ध्यान न भी दें तब भी इतना तो सत्य ही है कि ज्ञान है ही एक के द्वारा अनेक को समझना। आधुनिक विज्ञान के बारे में भी यह उतना ही सच है जितना कि प्राचीन दर्शन के बारे में। यह दूसरी बात है कि विज्ञान इसको ज्ञान के लक्ष्य के रूप में ही स्वीकार करता है, न कि इस रूप में कि यह वास्तव में सिद्ध हो चुका है। यही नहीं, वह यह भी जानने की कोशिश करता है कि वह क्या सिद्धान्त है जिसके अनुसार एक अनेक रूप लेता है। और उस सिद्धन्त की परीक्षा, उसके अनुसार, एक से अनेक उत्पन्न कर देने की सफल क्षमता में ही है; और तब भी पूर्णतया नहीं, क्योंकि यह सिद्ध करना तर्कतः असम्भव है कि वह प्रक्रिया किसी अन्य सिद्धान्त से निर्गमित नहीं हो सकती थी। पांडेजी का इस संदर्भ में यह कहना कि "ऐन्द्रिय विश्व का आधारभूत तत्त्व अतीन्द्रिय है, इस विश्वास को आध्यात्मिक अनुभूति ही प्रमाणित कर सकती

है" (पृ० 11) इस बात को भुलाता है कि बुद्धि के विषय भी अतीन्द्रिय होते हैं, और प्रमाणीकरण की बात तो केवल बुद्धि के ही क्षेत्र में उदय होती है। अनुभूति, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, केवल अपने ही लिये प्रमाण हो सकती है, किसी अन्य प्रमेय के लिये नहीं। दूसरे, आध्यात्मिक अनुभूति सदैव अतीन्द्रिय ही होती है, यह कम से कम उन भक्तों को तो स्वीकार नहीं होगा जो भगवान का साक्षात्कार इन आँखों से दर्शन करके करना चाहते हैं।

वास्तव में पाँडे जी के लेख की कई दिशायें हैं जिनका एक-दूसरे से संबंध बहुत ही आगन्तुक ढंग का प्रतीत होता है। लेख के प्रथम भाग में यह कहने की चेष्टा है कि आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक विधि ने एक प्रकार से वस्तु के स्वरूप के निर्धारण को ही असंभव बना दिया है। और इस असंभवता का कारण यह दिया गया है कि "वस्तु-स्वरूप का निर्धारण वस्तु के परिचय की मात्रा एवं उसके विश्लेषण के तार्किक गुण पर निर्भर करने के कारण एक गतिशील अधूरेपन के घेरे में रहता है।" (पृ०१) पर यदि "किसी भी वस्तु के स्वरूप का निर्धारण उसके विस्तृत एवं घनिष्ठ परिचय के बिना ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता," (पृ०७) और यदि "किसी वस्तु के सभी पक्षों से परिचय के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रत्यक्ष उन सभी परिस्थितियों में किया जाय जिनमें उसके गुणों और कार्यों का भेद प्रकट हो" (पृ०८) तो और हो भी क्या सकता है? और पाँडे जी को इससे शिकायत क्या है? उनका यह विश्वास कि "प्राचीन विज्ञान और तत्त्वमीमांसा अपने अभ्यस्त विश्व-परिचय के आधार पर तत्त्व-विभाग और तत्त्व-लक्षण से प्रायः आश्वस्त रहते थे" (पृ०८) उस विज्ञान और तत्त्व-मीमांसा की ऐतिहासिकता को भुलाकर ही हो सकता है। पृथ्वी का लक्षण विशिष्ट गन्ध को मानना या समस्त संसार की वस्तुओं को सत्त्व, रजस, तमसात्मक मानना सद्यः प्रत्यक्ष से उतना ही दूर है जितना कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त की इन वस्तुओं की परिभाषा। इसी कारण शायद जयन्त भट्ट को न्यायसूत्र में दिये हुए "दृष्टान्त" के लक्षण का परिष्कार करने की आवश्यकता महसूस हुई। न्यायसूत्र 1–1–25 के अनुसार दृष्टान्त का लक्षण यह कह कर दिया गया है कि लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन् बुद्धिसांम्यं सः दृष्टान्तः, जिसका सीधा सादा अर्थ यही होता है कि जिसको साधारण आदमी तथा परीक्षक, यानि दार्शनिक या वैज्ञानिक, दोनों स्वीकार करें वह दृष्टान्त होता है। परन्तु ऐसा मानने से अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं, क्योंकि किसको दृष्टान्त के रूप में स्वीकार किया जाये यह ज्ञानेन्द्रियों के निर्दोष होने पर निर्भर नहीं करता बल्कि उस बौद्धिक तत्त्व-व्यवस्था से संबंध रखता है जिसके संदर्भ में वह दृष्टान्त की पदवी पाता है। इसीलिये उद्योतकर ने अपनी वार्तिक में "लौकिक" पर जोर न देकर "बुद्धिसाम्य" पर जोर दिया, और जयन्त भट्ट ने तो "लौकिक-परीक्षक" का भेद ही मिटा डाला और दोनों को केवल वादी–प्रतिवादी के रूप में लिया। उद्योतकर ने यह न सोचा कि बुद्धि-साम्य की स्थापना कैसे होगी और जयन्त भट्ट ने यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं समझी कि यदि सूत्रकार का मतलब वादी प्रतिवादी से था" तो उसने "लौकिक–परीक्षक" का भेद ही क्यों किया।

जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यही है कि पाँडे जी ने प्राचीन विज्ञान और तत्त्व-

मीमांसा को जो प्रत्यक्षाश्रित बताया है उतना ही सत्य या असत्य है जितना कि वह आधुनिक विज्ञान या तत्त्वमीमांसा के बारे में होगा। विज्ञान और तत्त्वमीमांसा बुद्धि के क्षेत्र हैं, और इनमें प्रत्यक्ष का संदर्भ हमेशा एकसा ही रहता है। यह सच है कि आज का विज्ञान सतत परीक्षण-शील होने के नाते वस्तु के अनेक नये पक्षों को उजागर करता रहता है परन्तु तार्किक दृष्टि से इससे कोई मौलिक भेद उत्पन्न नहीं होता। दूसरी ओर आधुनिक युग में ऐसे दार्शनिकों की कमी नहीं है जिनके अनुसार वैज्ञानिक परीक्षण–विश्लेषण से प्रत्यक्ष-मूलक वस्तु-सत् पर कोई असर नहीं पड़ता। मूर तथा विट्गैंन्स्टाइन इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

दूसरी ओर यह कथन कि शुद्ध तत्त्व का ज्ञान केवल आत्मानुभूति की अपरोक्षता में ही मिलता है, जिसमें वे सब समस्याएं नहीं हैं जो वस्तु-सत् के प्रत्यक्ष की एक-पक्षता से उत्पन्न होती हैं, आत्मानुभूति के इतिहास की विविधता को भूलाकर ही किया जा सकता है। श्री अरविन्द ने हाल ही में सब पूर्व आत्मानुभूतियों की एकदेशीयता या एक-स्तरात्मकता का निरूपण किया है। और उनसे बहुत पहले, भगवान बुद्ध आत्मा की तात्त्विकता को ही अस्वीकार कर चुके हैं, या कम से कम उसे स्वीकार करने से इन्कार कर चुके हैं। विभिन्न संप्रदायों के आचार्यों तथा उनके अनुयायियों के परस्पर व्यवहार से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्हें किसी तत्त्व की समान अनुभूति थी। और पांडे जी का यह समझना कि करणोपकरणता आत्मानुभूति में नहीं होती, उसके साधना-पक्ष को अनदेखा कर देता है। साधना से स्वतंत्र आत्मानुभूति तो सब को होती है पर पाँडे जी का आशय उससे नहीं है। वे तो साधना-सिद्ध आत्मानुभूति की बात कर रहे हैं। पर वह तो साधना-भेद से भिन्न-भिन्न होती है। वाम-मार्गी तंत्र-साधना करने वाले की आत्मानुभूति वही होती है जो जैन अर्हत की, ऐसा तो शायद पांडे जी भी नहीं मानेंगे। बुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय में हुए माने जाते हैं, परन्तु ऐतिहासिक विवरण से ऐसा पता नहीं लगता कि दोनों एक-दूसरे की अपरोक्षानुभूति को सत्य मानते थे।

पांडे जी को यह सब ज्ञात नहीं हो ऐसा नहीं है। फिर, उन जैसा विद्वान इनकी अनदेखी क्यों करता है? इसके मूल में जहाँ एक ओर आधुनिक विज्ञान की निरंतर गतिशीलता के कारण कोई प्रामाणिक तथा स्थायी आधार प्राप्त न होना है, वहां दूसरी ओर प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता के प्रति वह आग्रह है जो उसे सदा एक-रस, सदा-संपूर्ण तथा भ्रान्ति-संभावना-विहीन मानता है, और इस प्रकार किसी एक जगह पांव टिकाकर बौद्धिक संतोष प्राप्त करने की आशा रखता है। इसमें, पांडे जी अकेले ही नहीं हैं। देश के अनेक समृद्ध चिन्तनशील व्यक्ति, जिनकी बौद्धिक जड़ें पश्चिम की उर्वर भूमि में गाहरी फैली हुई हैं परन्तु जिनकी भावनात्मक आस्था इस देश की परंपरा से आत्मिक रूप में उससे भी अधिक गहरी जुड़ी है, इस व्याधि से ग्रस्त हैं। पर पांडे जी जैसे इतिहासज्ञ को ज्ञात होना चाहिये कि इस प्रकार का चिन्तन न वस्तु-सत् को जानने में सहायता करता है न आत्म-सत् को। इसकी परिणति केवल एक मिथ्या आत्माभिमान में होती है जो एक ओर विज्ञान की ज्ञान-साधना को निरादर की दृष्टि से देखता है वहाँ दूसरी ओर अपने को या अपने देश को उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रतिनिधि मानता है जो उसके अनुसार उसकी संस्कृति ने अपने

प्रारंमिक काल में ही प्राप्त कर लिया था। दोनों प्रकार की परिणति किसी के लिए हितकारी नहीं है —चाहे वह व्यक्ति हो, समाज हो, या देश हो।

दयाकृष्ण
सी–6, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

५

सांख्य–वेदान्त वाद-विवाद के संबंध में कुछ विचार

"सांख्य पर शंकर के आक्षेपों का सांख्यीय समाधान" शीर्षक से सांख्य-भूमिका समर्थक एक विचारोत्तेजक लेख सुश्री प्रेमलता शर्मा ने 'उन्मीलन' के प्रथम अंक में प्रस्तुत किया है। भारतीय दर्शन के अध्येताओं को सांख्य की न्यूनताओं के संबंध में ही अधिकतर जानकारी होती है, सांख्य के दृष्टिकोण से वेदांतीय प्रतितर्कों का कैसे प्रतिवाद किया जा सकता है इस बात का विचार शायद ही किसी ग्रंथ में किया गया हो। वैसे सांख्य पर प्राचीन सांख्याचार्यों के लिखे बहुत ही कम ग्रंथ उपलब्ध हैं। 'सांख्यतत्त्व कौमुदी,' 'सांख्यप्रवचनभाष्य' जैसे जो कुछ प्रमाण-भूत ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें सांख्य पर उठाये गये वेदान्तीय आक्षेपों की चर्चा बहुत ही कम दिखाई देती है। इस पर से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि सांख्य की ओर से इन आक्षेपों का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रतिवाद का एक नमूना प्रेमलताजी ने अपने विस्तृत लेख के द्वारा प्रस्तुत किया है। इस प्रतिवाद पर वेदान्तीय प्रत्याक्षेप भी संभव है जिसे इस लेख में विशद किया जायगा। दर्शन में वाद-प्रतिवाद का सिलसिला बराबर चलता ही रहता है। अनुकूल तर्क के अभाव में किसी दार्शनिक भूमिका का पूर्णतः परित्याग आवश्यक हो गया, ऐसी बात शायद ही घटित होती हो। अधिकतर अनास्थावश या किसी नयी विचारधारा के आकस्मिक आविर्भाव के कारण ही परिचित दार्शनिक भूमिकाओं की ओर से विचारक लोग मुंह मोड़ लेते दिखाई देते हैं, किन्तु वैचारिक परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन होने पर पूर्वतन भूमिका का पुनरुज्जीवन किसी नये रूप में असंभव नहीं है। इस दृष्टि से प्रेमलता जी का सांख्यीय भूमिका के समर्थन का प्रयास सराहनीय है। वेदान्तीय आक्षेपों का यहां जो पुनः प्रतिपादन किया जा रहा है उसका मुख्य उद्देश्य सांख्य-वेदांत भूमिका-भेद को अधिक स्पष्ट करना ही है। एतदर्थ सांख्य की परंपरागत विचार-प्रणाली में कुछ संशोधन या परिष्कार की आवश्यकता हो सकती है। यह तो सांख्य का दुराग्रही समर्थक भी नहीं कहना चाहेगा कि जिस रूप में सांख्य-सिद्धान्त सांख्य के प्राचीन ग्रंथों में प्रतिपादित है उसी रूप में वह पूर्णतया स्वीकारार्ह है। वेदान्तीय सिद्धान्त भी शंकर के ग्रंथों में जिस रूप में उपस्थापित किये गये हैं उसी रूप में परवर्ती ग्रंथों में वे उपलब्ध नहीं होते। इनमें पर्याप्त परिष्कार चित्सुख,

मधुसूदन, विवरणकार आदि वेदान्तीय आचार्यों ने किये हैं। अतः यहाँ यह देखना ही उचित होगा कि वेदान्तीय आक्षेपों के प्रकाश में सांख्य की परंपरागत विचार-प्रणाली में संशोधन-परिष्कार आदि की आवश्यकता है या नहीं। वेदान्तीय सिद्धान्त सदियों के परिष्कार के बावजूद भी अर्वाचीन चिंतन के संदर्भ में नये ढंग से परिष्कार किये जाने की अपेक्षा रख सकते हैं। कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य जैसे महा मनीषियों ने ऐसे परिष्कार की दिशा उद्भावित की ही है। सांख्य-विचार ही इस लेख में प्रासंगिक होने से हम बिदुषी लेखिका के द्वारा प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वेदान्त पर किये गये प्रत्याक्षेपों का, यदि वे वेदान्त के सांख्यीय आक्षेपों को अतर्क-संगत न सिद्ध करते हों तो, विचार नहीं करेंगे। वेदान्त पर लिखे गये अनेक प्रचीन ग्रंथ हैं जिनमें अन्य दार्शनिकों के वेदान्त-संबंधी आक्षेपों की विस्तृत तथा मूलग्राही चर्चा उपलब्ध है।

अब हम विचार्य लेख के क्रम से ही इसमें प्रस्तुत तर्कों की यहां संक्षिप्त चर्चा करेंगे। प्रेमलताजी का पहला तर्क यह है कि "सांख्य श्रुति को परामर्थ-ज्ञान में प्रमाण स्वीकार नहीं करता बल्कि उसे इस कारण अशुचि भी मानता है......इस लिये वह शंकर की उन सब युक्तियों को, जो उसने सांख्य की श्रुति-विरुद्धता दिखाने के लिये दी हैं, अप्रासंगिक कहकर तिरस्कृत कर सकता है।" इस कथन के उत्तरार्ध में निर्दिष्ट श्रुति को अशुचि मानने की बात सही नहीं है। श्रुति-विहित पशुहिंसादि कर्म ही "मा हिंस्यात् सर्वं भूतानि' इस श्रौत निषेध का विषय होने से ईषत् पाप-कारक होता है, ऐसा सांख्यकार कहते हैं। यह पाप हिंसा-करणक याग से उत्पन्न होने वाले पुण्य की तुलना में नगण्य होने से संभ्रात लोग यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त हों तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं, ऐसा श्रौत कर्मकांड का समर्थन कौमुदीकार वाचस्पति ने किया है। वेदों के प्रामाण्य पर उन्होंने या अन्य किसी ने कोई आक्षेप नहीं किया है।

परमार्थ-ज्ञान में श्रुति-प्रमाण नहीं यह उपर्युक्त कथन कहां तक सही है? अनुमान से प्रकृति की सत्ता सिद्ध की जा सकती है किन्तु महत्, अहंकार, तन्मत्र, मन आदि की सत्ता तथा इनका उत्पाद-क्रम किन अनुमानों से और कैसे सिद्ध करना संभव है? इस संबंध में वाचस्पति ने जो स्पष्टीकर दिया है वह अतीव अपर्याप्त है। देवताओं का विचार सांख्य-दर्शन के लिये कोई खास महत्त्व नहीं रखता जिसके कारण शब्द रूप स्वतंत्र प्रमाण का स्वीकार उसे करना पड़े। प्रमाण-विचार के प्रति सांख्य कितना आस्थावान् है यह बात अर्थापत्ति की स्वतंत्र प्रमाणता के खंडन के लिये वाचस्पति ने जो प्रयास किया है उस पर से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। शब्द-प्रमाण का सांख्य के लिये उतना ही महत्त्व है जितना अनुमान या प्रत्यक्ष का अतः सांख्य को श्रुत्यसंमत प्रतिपादित करने को 'अप्रासंगिक है' ऐसा कहना उचित नहीं प्रतीत होता है।

लेखिका द्वारा प्रस्तुत किया गया दूसरा तर्क वेदान्त के विरुद्ध है। वह यह है कि यदि ब्रह्म और मोक्ष केवल आगम-प्रत्यक्षगम्य हैं तब हमारे लिये केवल शब्द-मात्र हैं ······हमारे लिये अनुभवगम्य या तर्कगम्य नहीं हैं······श्रुतिवचनों का अर्थ क्या है यह भी स्पष्ट नहीं है, श्वेतकेतु द्वारा साक्षात्कृत 'तत्त्वमसि' मंत्र का ज्ञान श्रुतिमूलक नहीं है न वह दार्शनिक ही है, वह तो आत्मा से आतमा में आलोक-संप्रेषण है। शंकर तो श्रुतिप्रमाण को ऐसे शब्द के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका अर्थ विमर्श द्वारा निर्णेय है······किन्तु

तर्क श्रुति के अधीन कैसे हो सकता है, यदि श्रुति के अर्थ का निर्णय तर्क से ही सम्भव हो?"

इस उद्धरण में ब्रह्म की श्रुति-प्रमाणागम्यता तथा तर्कमात्र-गम्यता का समर्थन किया गया है। ब्रह्म-बोधक श्रुति-वाक्यों के अर्थ का निर्णय तर्क से ही संभव है, अतः श्रुति-प्रमाण को ही तर्काधीन मानना होगा। श्वेतकेतु को महावाक्यों से प्राप्त हुआ साक्षात्कार श्रुति-मूलक न होकर अन्यविध ही है। श्रुति और तर्क के संबंध के विषय में वेदान्तीय भूमिका का किंचित् अधिक विशदीकरण यहां अपेक्षित है। तदर्थ वेदान्ताभिप्रेत तर्क की तीन विधाओं का निर्देश इस प्रसंग में अस्थाने नहीं होगा। तर्क की एक विधा वह है जिसका विस्तृत विचार मीमांसा ने किया है। इसका उपयोग वाक्यार्थ-निर्णयार्थ हुआ करता है। वेद-वाक्यों के सही अर्थों का निर्धारण, मीमांसा शास्त्र में वाक्यार्थ-निर्णायक जो अनेकानेक निष्कर्ष विभिन्न अधिकरणों में प्रस्तुत किये गए हैं उनकी सहायता से किया जाता है। ध्यान रहे कि तर्क की उपयोगिता यहां अर्थ-निर्णय तक ही सीमित मानी गयी है। यहां तर्क प्रधान है और श्रुत्यर्थ-निर्णय तर्काधीन है।

एक तर्क की वह भी विधा है जिसे शंकर ने अप्रतिष्ठ एवं अनुभव-अनाधारित या श्रुति-अनाधारित कहा है। सर्वशून्यत्व-स्थापक या सर्वानैकान्तिकता-समर्थक तर्क, जिनके लिए किसी भी अनुभव का आधार प्राप्य नहीं है, 'अप्रतिष्ठ' तर्क के उदाहरण हैं। वस्तुमात्र की क्षणिकता प्रस्थापित करने के उद्देश्य से क्षणभंगवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क भी 'अप्रतिष्ठ' तर्क ही हैं। ऐसे अनुभवानाधारित तर्कों को ही शंकर ने परित्याज्य कहा है। अनुभवाधारित तर्कों में कुछ अलौकिक अनुभवों पर आधारित हो सकते हैं। इनके लिये ही 'श्रुत्यनुगृहीत तर्क' यह संज्ञा शांकर भाष्य में प्रयुक्त हुई है।

'तर्क' शब्द के इन तीन अर्थों में से पहला और तीसरा अर्थ उपनिषद् वाक्यों के अर्थ-निर्णय के लिए तथा अलौकिक ब्रह्मानुभव की संभावना तथा स्वरूप-निर्धारण के लिये प्रयुक्त तर्कों का निर्देशक है। यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उपनिषदों से ब्रह्म के स्वरूप का यथावत् आकलन होने पर भी ब्रह्मानुभव अधिकारी गुरु के द्वारा महावाक्यार्थोपदेश किये जाने पर ही संभव है। इस उपदेश-प्रक्रिया के लिए प्रेमलताजी ने 'आत्मा से आत्मा में संप्रेषण' ये वर्णनपरक अत्यन्त उपयुक्त शब्द प्रयोग में लाये हैं। इस संप्रेषण में 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों का एक समर्थ अनुभववादी माध्यम के रूप में प्रयोग अभिप्रेत होने के कारण ही वेदान्त ने श्रुति को ब्रह्म-ज्ञान का साधन कहा है। 'ब्रह्मानुभव साधन-चतुष्टय-सम्पत्ति-रहित मनुष्य को नहीं होता तो तर्क कैसे इस अनुभव पर अधिष्ठित होगा और जिन्हें ब्रह्मानुभव प्राप्त हो गया है उनको तर्क की आवश्यकता ही क्यों होगी? ऐसा प्रश्न वेदान्त की तर्क-विषयक भूमिका के संबंध में यहां पूछा जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सामान्य मनुष्य को ब्रह्मानुभव होता ही नहीं, ऐसा समझना उचित नहीं है। संसार की निस्सारता, दुःखमयता, मानव-जीवन की निरर्थकता आदि का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को कभी न कभी, क्षण-मात्र ही क्यों न हो, जो हुआ करता है वह अस्पष्टतया एक परम सत्य की सूक्ष्म अनुभूति को ही परिलक्षित करता है। इस अनुभूति के स्वरूप को उद्घाटित करना ही अनुभवानुरोधी तर्क का महत्त्वपूर्ण कार्य है। परम सत्य की सुस्पष्ट अनुभूति हो जाने पर तो किसी प्रकार के तर्क की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस प्रसंग में विवाद्य लेख के एक परिच्छेद में (उन्मीलन पृ. ३७ पहली पंक्ति से आरम्भ) कही गयी कुछ बातों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। लेखिका कहती हैं—"……जैसा कांट ने दिखाया…ऐन्द्रिक अनुभव के क्षेत्र में भी विचार अनुभव से स्वतन्त्र व्यापारित होता है : इसे कांट ने संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक (ग्रह) कहा है, बौद्धों ने इसे विकल्प कहा है। अवश्य ये दोनों इस ज्ञान को सत्ता-विषयक नहीं कहते हैं, किन्तु कांट में यह बौद्धों के समान सत् और ज्ञान के बीच व्यवधान का वाचक नहीं है।" यहां ब्रह्म-ज्ञान जैसे अलौकिक अनुभव के विचार के प्रसंग में कांट के द्वारा वर्णित संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक सत्य के निर्देश का क्या तुक है, समझ में नहीं आता। विचार कर देखा जाय तो कांट की अनुभव-विषयक यह वर्गणा, जिसमें एक छोर पर २+२=४ जैसे, और दूसरे छोर पर आत्मस्वातंत्र्य, निर्विशेष सत्य आदि जैसे तथ्यों के ज्ञान का समान रूप से समावेश होता हो, वह अलौकिक अनुभव के वैशिष्ट्य का कैसे निदर्शन कर सकती है, यह समझना कठिन है। वेदान्ती ऐसे अनुभव को ऐन्द्रियक न कह कर उसके लिये शब्दापरोक्ष या शब्द-जन्य साक्षात्कार इस संज्ञा का प्रयोग करते हैं। यह अनुभव प्रत्यभिज्ञान जैसा, विस्मृत आत्मतादात्म्य का ही अवबोध होने से, इसमें पूर्वाधिगतता (अप्रायरायटी) प्रतीत होती है। कुछ अलौकिक अनुभव शब्द-जन्य-परोक्षानुभव से भिन्न प्रकार के भी होते हैं, इन्हें 'प्रातिभ ज्ञान', 'योगज प्रत्यक्ष' जैसी संज्ञाओं से निर्दिष्ट किया जाता है जिस पर से इनकी साक्षात्कार रूपता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। किन्तु सामान्य (लौकिक) सन्निकर्ष से ये घटित न होने के कारण इन्हें 'ऐन्द्रियक' समझना उपयुक्त नहीं होगा।

बौद्ध और कांट में विकल्प-विषयक दृष्टि-भेद की बात जो इस परिच्छेद में बतायी गयी है वह बड़ी विचित्र है। आरोपित विकल्प की सहायता से वस्तुसत् की प्राप्ति होती है जैसे मणि-प्रभा की भ्रान्ति से मणि की प्राप्ति तथा ज्ञान होते हैं, ऐसा बौद्ध कहते हैं। इसके विपरीत कांट के अनुसार वस्तुसत् का बौद्ध आकारों से कदापि आकलन नहीं हो सकता। इस पर से, सत् और ज्ञान के बीच विकल्प को व्यवधान कांट मानता है, बौद्ध नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

उक्त परिच्छेद की अगली कुछ पंक्तियां बड़ी उलझन पैदा करती हैं, जैसे—"……इसी प्रकार प्रधान और पुरुष भी व्याप्तिमूलक अनुमानगम्य नहीं होकर अतिक्रामी दृष्टिगम्य हैं जो दृष्टि अतीन्द्रिय विचारात्मक है……सांख्य की दुःख से निवृत्ति की हेतु-भूत दृष्टि ऐन्द्रिय अनुभव और तत्परक अनुमान की सीमाओं से बाहर है।"

यदि इन पंक्तियों का मंतव्य यह है कि प्रधान, पुरुष आदि की सत्ता की आनुमानिक सिद्धि इनके साक्षात्कार या केवल ज्ञान ('केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्') से भिन्न है और इसी ज्ञान से वास्तविक दुःख-निवृत्ति सम्पन्न होती है, तो इसका सीधा मतलब यह है कि अलौकिक अनुभव अनुमानादि से भिन्न है। इस अनुभव के स्रोत के सम्बन्ध में कांट में कोई स्पष्टीकरण प्राप्य नहीं है जबकि भारतीय दर्शनों में इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है; न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा वेदान्त के इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं।

अब हम लेख में प्रस्तुत किये गये आठ वेदान्तीय सांख्य-विरुद्ध आक्षेपों के समाधान की ओर दृष्टिपात करेंगे।

सांख्य के 'जड़', 'प्रकृति' के संप्रत्यय पर शंकर अपने सूत्र-भाष्य में यह आपत्ति उठाते हैं कि "विशिष्ट प्रकार के सुख-दुःखादि साधन-पदार्थों से परिपूर्ण इस विश्व की जड़ प्रकृति के द्वारा रचना विचारार्ह नहीं है।" इस आपत्ति पर लेखिका प्रतिवाद करती हैं कि प्रकृति, महत् आदि क्रम से विकसित होने के कारण रथादि पदार्थ बौद्धिक हैं और प्रकृति भी वैसी ही है, भले ही वह जड़ हो। अर्थात् प्रकृति से लेकर समग्र विश्व चैतन्य-युक्त ही है। यह बात अलग है कि कुछ पदार्थों में चैतन्य की मात्रा कम तो कुछ में अधिक होती है। (मेरा स्पष्टीकरण) इस समाधान के अनुसार जड़ चेतन में कोई वास्तविक भेद है ही नहीं। किन्तु पुरुष चेतना और विश्वगत चेतना में अवश्य मूलगामी भेद है, इस स्पष्टीकरण के अनुसार व्यावहारिक जड़-चेतन भेद कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि सभी पदार्थ बुद्धि-तत्त्व-प्रसूत होने से चेतन हैं। यही चेतना इन पदार्थों की विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कारक या प्रवर्तक भी हो सकती है। यदि यह संभव हो तो पुरुष-चेतना की प्रवर्तक के रूप में आवश्यकता मानने का क्या तुक है? इस पर प्रतिबंदी तर्क वेदान्त के विरुद्ध लेखिका ने यह उपस्थित किया है कि ब्रह्म को भी अचेतन काष्ठ लोष्ठादि का उपादान नहीं माना जा सकता। जैसा पूर्व ही निर्देश कर दिया गया है, इस लेख में वेदान्त के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं उनकी चर्चा नहीं की जायेगी। उक्त आक्षेप पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि वेदान्तमतानुसार ब्रह्म वास्तव में विश्व का कारण न होकर उसके विवर्त का अधिष्ठान है।

आगे चलकर लेखिका कहती हैं—"सांख्य जगत् के आविर्भाव को केवल प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति से भी नहीं मानता······जो विविध विषयों······का संघात है (अर्थात् प्रकृति) उसे शंकर द्वारा साधारण-जनोचित अर्थ में जड़ कहना अयुक्त है।" ठीक है, मान लें कि प्रकृति जड़ नहीं चेतन है। तब इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा कि प्रकृति को सांसारिक भोगाभिमुख प्रवृत्ति के लिये भी पुरुष के सम्पर्क की आवश्यकता क्यों होती है? यदि सामान्य क्रियाकलाप के लिये भी पुरुषों की प्रेरणा अपेक्षित ही है तब प्रकृति तथा विश्व में समाविष्ट चेतना इनके प्रवर्तन के लिये समर्थ नहीं है, यह मानना होगा। ऐसा यदि मान लें तो स्वतःप्रवृत्ति-सामर्थ्य-रहित विश्व एवं प्रकृति को सामान्य अर्थ में भी जड़ मानना ही उपयुक्त होगा।

वेदान्त का सांख्य–विरुद्ध दूसरा आक्षेप यह है कि यह दर्शन बाह्य विषयों की सुख-दुःखादि मनोवृत्तियों से अभिन्नता प्रतिपादित करता है जिससे विषय-विषयी भेद का अपलाप होता है। इस आक्षेप पर लेखिका का समाधान यह है कि 'परमार्थतः सम्पूर्ण विश्व ही विषय-विषयि रूप–बाह्य है, केवल पुरुष ही 'आध्यात्मिक है,' इसका अभिप्राय यह है कि यह बाह्य-आभ्यन्तर भेद कृत्रिम है, किन्तु यह भेद कृत्रिम हो तो भोक्तृ-भोग्य भेद भी कृत्रिम मानना होगा क्योंकि सुख-दुःखादि मनोवृत्तियों से अभेदापन्न या उनमें प्रतिबिम्बित पुरुष ही सांख्य मतानुसार भोक्ता होता है, और यदि सुख-दुःखादिका-रक विषय सुख-दुःख रूप ही हों तो जो भोक्ता है वही भोग्य भी होगा। तब प्राकृतविश्व परार्थ होने से पुरुष की भोक्तृ रूप से सिद्धि असंभव हो जायेगी।

तीसरा सांख्य–विरुद्ध वेदान्तीय आक्षेप यह है कि जगत् के समान उसकी कारण मानी गयी त्रिगुणात्मक प्रकृति भी परिमित अतएव कार्य होनी चाहिये। वह अन्तिम कारण नहीं हो सकती। इस पर लेखिका का कहना है कि देश-कालादि परिमितता-प्रयोजक तत्त्व प्रकृति के

घटक ही होने के कारण प्रकृति में यदि परिमितता हो तो वह गोत्व-अश्वत्वादि में विद्यमान परस्पर व्यावर्तकता-रूप सांप्रत्ययिक परिमितता ही होगी। ऐसी परिमितता से प्रकृति की कार्यता या सकारणता सिद्ध नहीं हो सकती। शंकराचार्य को भी सांप्रत्ययिक या दिक्कालिक परिमितता यहां अभिप्रेत नहीं है। वे कार्य की स्वाभाविक कारणाव्यापिता की ही बात कर रहे हैं। कार्य कारण की विकृति होने तथा विश्व की विकास-प्रक्रिया बराबर जारी रहने के कारण कार्य की सत्ता कारण-सत्ता को कभी पूर्ण रूपेण व्याप्त नहीं कर सकती। अतः कोई भी कार्य अपने कारण की तुलना में अव्याप्त या परिमित ही रहेगा। प्रकृति भी तीन परस्पर विरुद्ध धर्म-युक्त गुणों का विशिष्ट प्रकार का सन्निवेश ही होने के कारण वह अपने घटकों की अन्योन्य परिमिति से मुक्त नहीं हो सकती। अतः प्रकृति का भी कोई न कोई कारण होना आवश्यक है। प्रकृति की साम्य-वैषम्य अवस्थाओं का नियन्त्रण पुरुष के द्वारा होता है ऐसा माना जाय तो प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का कारण पुरुष को ही मानना होगा।

वेदान्त की सांख्य–सिद्धान्त पर चौथी आपत्ति यह है कि प्रकृति-घटक गुण-त्रय का अंगांगिभाव-रूप परिणमन अपने-आप न होकर किसी चेतन के (अधिष्ठान या) प्रेरणा से ही घटित हो सकता है। पुरुष उदासीन होने के कारण वह प्रकृति-परिणाम का कारक होना संभव नहीं। तब प्रकृति को ही चेतन मानना होगा। इस पर लेखिका कहती हैं—'सांख्य जगत् को अनादि मानता है अतः उसे प्रवर्तक की अपेक्षा नहीं है।' 'शंकर उपादान और निमित्त में व्यामिश्र का (उक्त आपत्ति उठाते हुए) सहारा ले रहे हैं," किन्तु जड़ प्रकृति स्वयं से दृश्य क्रिया की कारक नहीं हो सकती, ऐसा कहने में शंकर कैसे उपादान और निमित्त में व्यामिश्र का सहारा ले रहे हैं, यह समझ में नहीं आता। वास्तव में सांख्य-मत में उपादान से भिन्न निमित्त न होने से इनके व्यामिश्र का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रकृति या जगत् अनादि मानने से उसकी प्रवृत्ति की समस्या कैसे हल हो जाती है यह भी समझ के परे है। प्रवृत्ति अनादि की हो या सादि की, उसका कोई कारण तो होना ही चाहिये। प्रकृति के विकार बुद्धि को प्रवृत्ति का आधार कह सकते हैं, तब सभी जड़ पदार्थों को स्वतः प्रवर्तमान मानना होगा। उस हालत में पुरुष तत्त्व के स्वीकार का कोई प्रयोजन नहीं रह जायेगा। यदि भोगार्थ प्रवृत्ति प्रकृति से स्वतः संभव हो तो मोक्षार्थ प्रवृत्ति भी स्वतः ही उसमें संभव मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

लेखिका ने वेदान्त की पांचवीं आपत्ति जो बतायी है वह ऊपर चर्चित चौथी आपत्ति में ही गतार्थ होने से इसकी चर्चा के संदर्भ में शंकराचार्य द्वारा उपस्थापित दो उपमाओं के लेखिका ने जो दोष बताये हैं उन्हीं की यहां हम चर्चा करेंगे। ये उपमायें लोहे को आकृष्ट करने वाले लोह-चुम्बक की तथा इन्द्रियों को आकृष्ट करने वाले रूपादि विषयों की है जो इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ प्रस्तुत की गयी है कि स्वतः प्रवृत्ति-रहित आत्मा भी देहादि का प्रवर्तक हो सकता है। दोनों उपमान और आत्मा में साम्य उनके सामान्य धर्म प्रवृत्ति-राहित्य में है, जाड्य के सम्बन्ध में नहीं। चुम्बक-लोहे में स्वाभिमुख क्रिया उत्पन्न करता है। तब उसे 'स्वतःसिद्ध नहीं' ऐसा कहने का क्या मतलब है? रूप की उपमा 'दार्शनिक रूप से विवादास्पद है' इस कथन का भी मतलब समझना कठिन है, और चूंकि स्वयं प्रवृत्ति-रहित चेतन कैसे किसी जड़ को प्रवृत्त कर सकता है, इस तथ्य का ही स्पष्टीकरण इन उपमाओं के द्वारा अभिप्रेत है इसलिए उन्हें नितांत अनुरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

इस संदर्भ में लेखिका ने वेदान्त मत पर कुछ प्रतिबन्दी युक्तियां प्रस्तुत की हैं, इनकी हम चर्चा नहीं करेंगे। वेदान्तीय कार्य-कारण-सम्बन्ध (यदि वह मान्य हो तो) की चर्चा विस्तारपूर्वक कई ग्रंथों में की गयी है।

सांख्य सम्बन्धी वेदान्त की छठी आपत्ति यह है कि निरपेक्ष, मुक्त-पुरुष का भोग और तदर्थ प्रकृति की प्रवृत्ति घटित होने की बात अर्थ-शून्य है—इस पर लेखिका ने श्री शल्यजी के लेख से एक उद्धरण लेकर उसके आधार पर प्रतिवाद प्रस्तुत किया है जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—'शंकर की आपत्तियां सांख्य पर तभी लागू हो सकती हैं यदि पुरुष और प्रकृति को दो सिद्ध वस्तुएं मान लिया जाय, जब कि सांख्य के लिये ये आत्म-अपर्याप्त मनुष्य और जगत् के लिये क्रमशः आदर्श या अन्वेष्य पर्यन्त स्थितियां हैं।"

इस कथन में मनुष्य और पुरुष में व्यामिश्र हो गया प्रतीत होता है। मनुष्य पुरुष चैतन्य तथा प्राकृत शरीर का एक विचित्र सन्निवेश है जिसे एक अर्थ में पर्यन्त स्थिति कहा जा सकता है। पुरुष-चैतन्य को किसी भी अर्थ में एक आत्म-अपर्याप्त पर्यन्त स्थिति कहना सांख्य के मूल पर ही कुठाराघात करना है। सांख्य की एक बड़ी कठिनाई पुरुष को 'नास्मि, न मे, नाऽहम्' ऐसा अविशेष ज्ञान-विषय-तत्त्व मान कर उसका प्राकृत जगत् के साथ सम्बन्ध प्रस्थापित करने के प्रयत्न से ही उद्‌भूत हुई है।

सातवीं वेदान्तीय आपत्ति सांख्य के पंगु तथा अंध की उपमा के द्वारा पुरुष, प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध के स्पष्टीकरण से सम्बन्धित है। उक्त उपमा में अंध व्यक्ति पंगु के दिशा-निर्देश को समझ सकने वाला है किन्तु उपमेय में प्रकृति बिल्कुल जड़ (या भोगापवर्गानुकूल ज्ञान-रहित) है। अतः प्रकृति को ज्ञानवान् मान लें तो वेदान्त और सांख्य की भूमिकाएं एक-जैसी हो जायेंगी। लेखिका इस आपत्ति पर कहती हैं कि पशु-पक्षियों जैसी आत्म-चेतना-रहित सहज प्रवृत्ति प्रकृति में मान ली जाय तो भोगापवर्ग की उत्पत्ति सहज में ही संभव है। ठीक है, प्रकृति की ही सहज प्रवृत्ति विश्व का निर्माण तथा संहार करती है, यदि मान लिया जाय, तब इस प्रश्न का क्या उत्तर होगा कि ऐसी स्वयंपूर्ण प्रकृति के लिये पुरुष के संयोग या साहचर्य की आवश्यकता क्या है?

शंकर ने लोह-चुम्बक की उपमा का अपने मत के समर्थनार्थ तो प्रयोग किया है किन्तु सांख्य के द्वारा इसी उपमा के प्रयोग पर आपत्ति उठायी है, ऐसा लेखिका का यहां वेदान्तीय आक्षेप पर प्रत्याक्षेप है। इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वेदान्त ने उक्त उपमा स्वयं-प्रवृत्ति-रहित आत्मा की प्रवर्तकता के स्वरूप को विशद करने के लिये प्रस्तुत की है। किन्तु सांख्य जब इसी उपमा का उपयोग जड़ प्रकृति को चेतन का कार्य करने में समर्थ बताने के लिये करता है तब उसका अधिक्षेप इसलिए किया गया है कि लोह-चुम्बक की क्रिया सोद्देश्य नहीं होती जबकि प्रकृति की प्रक्रिया भोगापवर्ग का अनिवार्य कारण होती है।

अन्त में सांख्य और वेदान्त के भूमिका-भेद को संक्षेप में समझाते हुए लेखिका ने वेदान्तीय भूमिका में यह दोष दिखाया है कि 'ताप की प्रतीति को स्वीकार करना, उस के निषेधार्थ ही क्यों न हो, आवश्यक है और तब प्रकृति को न मानने पर ब्रह्म को ही उसका उपादान मानना पड़ जायेगा जिससे ब्रह्म ताप से या अविद्या से आविल हो जायेगा। इस आपत्ति को प्राचीन वेदान्त-ग्रंथों में उदभावित कर उसका समाधान वहां यह प्रस्तुत किया गया है कि

परमार्थतः ताप, ताप-प्रतीति इस प्रतीति, का निषेध, ये सब उतने ही और वैसे ही आभास-रूप हैं जितने और जैसे स्वप्न में सम्मुख उपस्थित शत्रु, उसका आक्रमण, इस आक्रमण का प्रतिकार और इस प्रतिकार से शत्रु का विनाश आभास-रूप हैं। इनका निरास इनके पूर्ण आभासरूपता के आकलन से ही संभव है।

सांख्य-दर्शन की न्यूनता वही है जो स्वयंपूर्ण विश्व-व्यवस्था की अवधारणा के पुरस्कारक आधुनिक विज्ञान की न्यूनता है। वैश्विक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के सत्ताशास्त्रीय पक्ष का स्पष्टीकरण विश्व के बाहर खोजने की आवश्यता नहीं है, किन्तु विश्व में एक मूल्यात्मक आयाम भी है। वैश्विक घटनाएं सोद्देश्य भी हैं, वे भोगापवर्ग रूप हैं। इस सोद्देश्यता का स्पष्टीकरण विश्व के बाहर ही खोजना होगा। किन्तु यह कारण विश्व से पूर्णतया बहिर्भूत होकर भी कैसे विश्व को चालित कर सकता है, यही सांख्यीय द्वैतवाद की पहेली है जिसके विभिन्न पहलुओं को शंकर के आक्षेपों ने प्रकाश में लाया है। मोटे तौर पर हम सांख्य-वेदान्त के मतभेद को अस्पष्ट मूल्य-चेतनायुक्त विज्ञान तथा मूल्य-संप्रत्ययाधिष्ठित दर्शन के मतभेद के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

नारायण शास्त्री द्राविड़
प्रोफेसर्ज़ कोलोनी, हनुमान नगर,
नागपुर।

६

पुस्तक-समीक्षा

बिलीफ्स, रीज़ंस् एंड रिफ्लेक्शंस्

लेखक : प्रोफेसर एस. एस. बार्लिंगे, : प्रकाशक : इण्डियन फिलोसोफिकल क्वार्टली पब्लिकेशंस्, पूना विश्वविद्यालय, पुणे, १९६३, पृष्ठ सं. २५२, मूल्य : ७०–०० (अजिल्द).

यह पुस्तक समीक्षा के लिए मैंने प्रकाशक से उसे स्वयं लिखकर मंगवायी थी और विचार किया था कि मैं ही इसकी समीक्षा भी करूंगा। इसका कारण यह था कि प्रोफेसर बार्लिंगे मेरे मित्र हैं, वरिष्ठ दार्शनिक हैं, और आयु, विद्या तथा यश में मेरे से गरीयान् हैं। किन्तु जब पुस्तक पढ़नी प्रारम्भ की तब बड़ी निराशा हुई और सोचा कि इसकी समीक्षा नहीं लिखना ही ठीक होगा, क्योंकि एक तो इसे पढ़ना पुरस्कारक नहीं होगा और दूसरे, साधारणतः समीक्षा उसी पुस्तक की लिखनी चाहिए जिसकी आप प्रशंसा कर सकें। किन्तु फिर सोचा कि डा. बार्लिंगे एक प्रतिष्ठित दार्शनिक हैं, ऐसी अवस्था में उनकी कोई कृति दोषपूर्ण होने पर पाठकों को यह बताना भी आवश्यक है कि वह कृति क्यों दोषपूर्ण है! परिणामतः मैं अपना अप्रिय कर्त्तव्य मानकर यह समीक्षा लिख रहा हूँ। किन्तु मेरे विचार में, इस पुस्तक में इतने दोष हैं कि इसके प्रथम चार लेखों की समीक्षा ही बीस पृष्ठों की हो गई है, १९ लेखों की समीक्षा कितनी बड़ी हो जायेगी यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इसलिए मैंने चार ही लेखों की समीक्षा प्रस्तुत करने का विचार किया; दो लेख आरम्भ के, जिन्हें लेखक अपने आधारभूत विचार के प्रस्तावक मानता है और दो आगे के, जो मूल्य-विषयक हैं। पहले दो लेखों को एक प्रकार से ज्ञान-विषयक और तत्त्व-विषयक कहा जा सकता है, यद्यपि ज्ञान और तत्त्व-विषयक बहुत गौण प्रश्न से ये सम्बन्धित हैं।

यह पुस्तक एक लेख-संग्रह है, इस प्रकार कोई विचार-व्यवस्था संपूर्ण पुस्तक में नहीं हो सकती। किन्तु डा. बार्लिंगे का कहना है कि विचार की कठोर व्यवस्था को वे अपनी स्वतन्त्रता नें बाधक मानते हैं इसलिए वे विचार की शिथिल बुनाई को अधिक पसन्द करते हैं।' किन्तु विचार में व्यवस्था तो स्वभावगत होती है, केवल उसे व्यक्त करना बहुत दुष्कर होता है, बहुत से लेखकों के लिए यही स्वातन्त्र्य-बाधक है। अस्तु।

संकलन के पहले तीन लेखों का एक ही विषय है : विवेच्य और विभाज्य (डिस्टिंग्विशेबल्स एण्ड सेपेरेबल्स), किन्तु इन लेखों में भी कोई एक व्यवस्था और क्रम नहीं है। ये तीनों सर्वथा स्वतन्त्र लेख हैं और परिणामतः एक ही बात की आवृत्ति जैसी करते हैं, कम से कम एक दूसरे की बात को आगे नहीं बढ़ाता। इसलिए दूसरे लेख में यहां तक भी नहीं कहा गया है 'जैसाकि हमने पिछले लेख में कहा था।' ऐसी अवस्था में लेखों में किसी शिथिल सम्बन्ध की भी बात नहीं की जा सकती। यहां हम भी इन लेखों पर पृथक्-पृथक् और क्रम से विचार करेंगे।

डा. बार्लिंगे के अनुसार, जगत् (फिनोमिना) वैविध्यपूर्ण है। वैविध्य दो प्रकार का है : (१) वस्तु-मूलक और (२) गुण या लक्षण-मूलक। उदाहरणतः दो प्रस्तर-खण्ड और एक पेड़, पेड़ के विभिन्न पत्ते, यह प्रथम प्रकार का वैविध्य है और पत्ते का आकार और वर्ण और गंध यह दूसरे प्रकार का वैविध्य है। डा. बार्लिंगे के अनुसार, प्रथम प्रकार के विविध परस्पर पृथक् अवस्थित होते हैं : इनमें एक दूसरे से पृथक् पहचाना ही नहीं जा सकता बल्कि पृथक् रह भी सकता है, दोनों अस्तित्व में परस्पर स्वतन्त्र होते हैं; किन्तु दूसरे प्रकार के वैविध्य में पृथक् पहचाने जाने वाले विविध वस्तु-निर्भर होते हैं और परस्पर पृथक् अस्तित्व में नहीं रह सकते। उदाहरण के लिए फूल, उसका रंग और गन्ध तीन भिन्नतः ग्राह्य हैं। किन्तु वर्ण और गन्ध फूल से स्वतन्त्र अवस्थित नहीं हो सकते, उससे स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। इसमें प्रथम वैविध्य विभाज्य प्रकार का है और दूसरा विवेच्य प्रकार का। विभाज्य प्रकारक को डा. बार्लिंगे वस्तु-मूलक इसलिए कहते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार जो पृथक् ग्राह्य होने के साथ-साथ पृथक् रहने के योग्य भी है वही वस्तु है, जो पृथक् ग्राह्य के साथ पृथक् रहने योग्य नहीं है वह वस्तु नहीं है। उनके अनुसार पूर्व और पश्चिम दोनों की दर्शन-धाराओं में यह अन्तर देखा गया था, जैसे समवाय-सम्बन्ध और संयोग-सम्बन्ध के रूप में वैशेषिकों ने। किन्तु उन्होंने इसके आपादनों की व्यापकता को नहीं जाना था। पर जैसाकि हम अभी आगे देखेंगे, डा. बार्लिंगे इस खोज में जो देखते हैं उसमें कुछ सार्थक उपलब्धि नहीं है।

विवेच्य और विभाज्य में क्या अन्तर है? समवाय सम्बन्ध गुण और गुणी के बीच नित्य : अयुत सिद्ध : होता है, किन्तु घट और उसके वर्ण में सम्बन्ध को नित्य कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वर्ण, आंख और प्रकाश के भेद से तो भिन्न होता ही है, स्वयं घट के भी पुराना होने के साथ-साथ बदलता रहता है। नित्य केवल यह है कि घट का कोई न कोई वर्ण अवश्य होगा। खैर, डा. बार्लिंगे सम्बन्ध की नित्यता-अनित्यता का प्रश्न नहीं उठाते। उनके लिए केवल आधाराधेयता प्रासंगिक है। तब प्रश्न होगा कि दो गुणों के बीच सम्बन्ध को आप क्या कहेंगे, जैसे फूल के वर्ण और गन्ध के बीच सम्बन्ध को? डा. बार्लिंगे के शब्दों में "मैं एक मेज़ को दूसरे मेज़ से पृथक् कर सकता हूँ किन्तु मेज़ और उसके वर्ण को, अथवा मेज़ और उसके भार को पृथक् नहीं कर सकता, इन्हें मैं केवल (डिस्टिंग्विश) कर सकता हूँ।" (५) ठीक, किन्तु मेज़ के वर्ण और उसके भार के बीच भेद के बारे में आप क्या कहेंगे? आप कह सकते हैं कि इन के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अपने-आपसे दो मेज़ों में भी कोई सम्बन्ध नहीं है, यह सम्बन्ध हमारे इन्हें एक-साथ देखने और संयुक्त करने के

अभिप्राय से उत्पन्न होता है। और फिर, विवेचन और विभाजन के लिए सम्बन्ध होना भी आवश्यक नहीं है, केवल वैविध्य होना आवश्यक है जो वर्ण और भार के बीच है। दूसरे, इस वैविध्य के लिए हम भौतिक वस्तु और गुण तक ही सीमित क्यों रहें, मनो-लोक को भी सम्मिलित क्यों नहीं करें? तब दो विचार-क्रियाओं में एक ओर तथा विचारगत प्रत्ययों में दूसरी ओर, तथा विचार-क्रिया और प्रत्यय में तीसरी ओर, क्या सम्बन्ध होगा, विवेच्य या विभाज्य?

अब, वस्तु क्या है? डा. बार्लिगे के अनुसार "मेज़, कुर्सी, पत्थर, लकड़ी ये वस्तुएं हैं क्योंकि ये भौतिक हैं, ये भौतिक रूप से एक-दूसरे से संयुक्त और पृथक् की जा सकती हैं (पृ.५), ये देश-गुणोपेत हैं। (पृ.८-९) किन्तु 'भौतिक' से आपका क्या अभिप्राय है? संभवतः देश-गुणोपेत ही। किन्तु तब प्रश्न होगा कि, वह क्या है देश जिसका गुण है? डेकार्ट ने भौतिकता और दैशिकता को एक ही कहा था, देश को वस्तु का गुण नहीं कहा था, डा. बार्लिगे देश को गुण कहते हैं, यह बताने का कष्ट किये बिना कि वह गुणी : वस्तुः क्या है देश जिसका गुण है। और पुनः, विभाज्य वह वस्तु है या देश? डा. बार्लिगे वस्तु को भौतिकता के कारण भी विभाज्य कह रहे हैं (५) और दैशिकता के कारण भी, (८) सो, उन्हें इस सम्बन्ध में निश्चय करना चाहिए कि वे किस कारण वस्तु को विभाज्य मानते हैं।

अब भौतिक वस्तु के उदाहरण के सम्बन्ध में। डा. बार्लिगे, जैसे कि अन्य सब दार्शनिक भी, पत्थर और मेज़ के बीच कोई विवेक नहीं करते, किन्तु इनमें मौलिक भेद हैं जिसका विस्तृत विवेचन हमने अन्यत्र[1] किया है। यहां संक्षेप में इतना स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि मेज़ एक कृति है जो पत्थर नहीं है (यदि पत्थर को ईश्वरीय कृति नहीं मानें तो) और व्यष्टिता तथा अवयवयिता इसमें कर्त्तृमूलक हैं, जो पत्थर में नहीं हैं। इस कारण पत्थर जबकि विभाज्य है, मेज़ विभाज्य नहीं है, और यह कहने का कोई अर्थ नहीं है कि दो मेज़ विभाज्य नहीं हैं, वे केवल निकट-दूर हो सकते हैं। वे दूसरे लेख में इस भेद को देखते हैं, यद्यपि बहुत असम्यक् रूप से, किन्तु इस लेख में उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता। उनके इस विवेक पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे।

इसके बाद डा. बार्लिगे दो प्रश्न उठाते हैं (१) अस्तित्व (और वस्तु) के अर्थ का निर्णय हम कैसे करते हैं? (२) वस्तु की दैशिक विशेषताओं का निर्णय हम कैसे करते हैं?

पहले प्रश्न के समाधान के प्रसंग में वे अस्तित्व की कोई चर्चा नहीं करते, जिससे अनुमान होता है कि वे अस्तित्व और वस्तु को अभिन्न मानते हैं। किन्तु ऐसा न मानने का क्या आधार है? तब क्या विवेच्यों का अस्तित्व नहीं होता है। किन्तु यह उत्तर ठीक नहीं होगा, कम से कम यह स्वतःस्पष्ट बात नहीं है। उदाहरणतः घट के वर्ण का अस्तित्व घट-मूलक तो है किन्तु उसके अस्तित्व की हानि से घट की हानि नहीं होती। वास्तव में यदि गुण और गुणी में भेद करें, जो कि डा. बार्लिगे असम्यक्तया करते हैं, तब यह भी कहा जा सकता

१. द्रष्टव्य-'मनुष्य और जगत्', अ. १, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९८५, तथा 'सत्ता विषयक अन्वीक्षा', अ. ४ (प्रकाश्य).

है कि गुण जबकि निरन्तर परिवर्तनशील होते हैं, गुणी में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह केवल उत्पन्न और नष्ट होता है। इस प्रकार गुण का अस्तित्व गुणी के अस्तित्व में अन्तर्भूत नहीं होता, ये परस्पर पृथक् (विवेच्य नहीं, विभाज्य) होते हैं। इसी प्रकार, डा. बालिंगे काल को वस्तु-गुण मानते हैं। तब वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न होगा कि क्या अतीत और अनागत वस्तुओं का अस्तित्व है ? यदि नहीं तो, वर्तमान वस्तु का भी अतीत और अनागत में अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? अन्यथा भी, वस्तु-मूल में अस्तित्व में अतीत और अनागत का संग्रह कैसे हो सकता है, चेतना तो इनकी वर्तमान में संग्राहक हो सकती है। यदि वस्तु में अतीत-अनागत का संग्रह मानें तो फिर अनस्तित्व क्या होगा ? दूसरे, वस्तु के सदोष होने पर : और सब कृतियां न्यूनाधिक सदोष होती ही हैं : प्रश्न हो सकता है कि उसके निर्दोष स्वरूप का अस्तित्व है या नहीं ? इसका सहज उत्तर होगा कि नहीं। किन्तु तब क्या अस्तित्व वस्तु की सत्ता : तत्त्व : का एक बहुत विपन्न आयाम मात्र नहीं है ?

अब, वस्तु क्या है ? डा. बालिंगे इस प्रश्न के उत्तर में पाठक को उसी प्रकार निराश करते हैं जैसे अस्तित्व का प्रश्न उठाकर। वे कहते हैं कि "अब तक हम गोचर पिंडों को ही वस्तु मानकर चले हैं, अगोचर आणविक पिण्डों को हमने वस्तु नहीं माना।" किन्तु उनका कहना है कि, यह ठीक नहीं है। क्यों ? इसका समाधान वे नहीं करते। दूसरे, वस्तु-तत्त्व में क्या केवल इतना ही विचार्य है कि स्थूल के समान सूक्ष्म पिण्ड भी वस्तुएं हैं या नहीं ? वस्तु-विषयक इस 'विचार' के बाद डा. बालिंगे वस्तु की दैशिक विशेषताओं विषयक प्रश्न उठाते हैं। किन्तु इसका उत्तर वे क्या देते हैं ? पुनः, यह उत्तर देना वे आवश्यक नहीं समझते। वे केवल यह कहते हैं कि केवल स्थूल वस्तुओं को देशात्मक नहीं मानना चाहिए। उनके अनुसार, बहुत से लोग अणुओं को देशात्मक नहीं मानते जो अयुक्त है। किन्तु क्यों अयुक्त है इसका कारण वे नहीं बताते।

वे आगे बताते हैं कि जो विशेषताएं विभाज्यों में होती हैं यदि हम उन्हें विवेच्यों पर भी लागू करें तो उससे क्या परिणाम निकलते हैं। उनके अनुसार एक परिणाम यह निकलता है कि तब हम तुरन्त समझने लगते हैं कि विवेच्य, जो कि विभिन्न कोटियों से सम्बन्धित हैं, एक ही कोटि के हैं। दूसरे, यद्यपि विवेच्यों का वास्तव में अस्तित्व नहीं है किन्तु हम समझने लगते हैं कि उनका अस्तित्व है और हम उन्हें देशात्मक वस्तुएं मानने लगते हैं। हम गुणों, क्रियाओं, वर्णों तथा सामान्यों को देशात्मक वस्तुएं मानने लगते हैं।" "हम इन विवेच्यों को देशगत और भौतिक रूप से सम्बन्धित मानने लगते हैं।" (९) पहले तो हम यह जानना चाहेंगे कि ऐसे मूढ़ कौन हैं जो वर्गों और सामान्यों को दैशिक मानते हैं और दूसरे, यह सब गुणों के सम्बन्ध में कैसे सही है कि वे दैशिक नहीं हैं ? उदाहरणतः इन्द्रिय-ग्राह्य प्रायः सभी गुण दैशिक होते हैं, चक्षु-ग्राह्य तो अनिवार्यतः ही होते हैं। तीसरे, "भौतिक रूप से सम्बन्धित" से क्या अभिप्राय है ? पुष्प और उसकी गन्ध, घट और उसका वर्ण, पुष्प की गन्ध और वर्ण, तथा मेघ-गर्जन और तड़ित-चमक ये किस प्रकार सम्बन्धित हैं ? डा. बालिंगे कुछ भी नहीं बताते। वे मानते हैं कि 'भौतिक रूप से सम्बन्धित होना' का अर्थ तो सबको पता ही है—मेज़ पर कुर्सी, आलिंगित प्रेमी, स्तन्य-पान करता बच्चा और उसकी माँ सब भौतिक

रूप से ही तो सम्बन्धित हैं ! यदि इन्हें भौतिक रूप से सम्बन्धित देखने में किसी को दिक्कत हो तो वह देख ले कि ये विभाज्य हैं या विवेच्य ? बस बात साफ हो जायेगी !

अब देश और काल के सम्बन्ध में । इनके सम्बन्ध में भी डा. बालिंगे कम प्रवचनात्मक, अथवा कहें विस्मयोत्पादक, नहीं हैं । इस चर्चा का आरम्भ वे इस प्रकार करते हैं : "हमारा सम्पूर्ण अनुभव देश-काल से विशेषित है । मानव-जीवन में भी, जैसे अन्यत्र, ये दोनों गुण विद्यमान हैं । देशात्मक गुणों को कालात्मक गुणों से भी पृथक् नहीं किया जा सकता । कालात्मक विशेषताओं का वैशिष्ट्य क्या है ? प्रथमतः हम कह सकते हैं कि काल अवधि (ड्यूरेशन) अथवा स्थायिता (पर्सिस्टेंस) की मूल अवधारणा से सम्बन्धित है । अनुभव में हमें यह सावधिकता कहां पर मिलती है ? क्या सावधिकता की विद्यमानता का **प्रमाणीकरण** किया जा सकता है ? जहां तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, संभवतः इसके बारे में निश्चित नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि यह प्रायः ही कहा जाता है कि वस्तुएं काल में स्थिति रखती हैं (एण्ड्योर इन टाइम), किन्तु निस्संदिग्ध रूप से कालावधि या काल-स्थायिता का **प्रमाणीकरण केवल मानवीय अस्तित्व अथवा मानव-जीवन** से तुलना अथवा नापने के द्वारा ही होता है । यदि जीवन की दीर्घता : अवधि : य है तो इस लम्बाई को दो भागों में नहीं बांटा जा सकता, कहें क और ख में, प्रथम भंजन (टूटना) ही जीवन के अन्त का द्योतक होता है । इस दृष्टि से काल में जीवन अथवा अस्तित्व का देश में अस्तित्व से भेद द्रष्टव्य है । देश में अस्तित्व विस्तार तथा भागों के रूप में होता है, और यदि अस्तित्व का निषेध भी किया जाय तो भी भाग भागों के रूप में विद्यमान रहते ही हैं ।" (पृ. १०)

इतना लंबा उद्धरण हमने इसलिए दिया कि अन्यथा पाठक शायद विश्वास नहीं करें कि डा. बालिंगे इस प्रकार का लेखन कर सकते हैं । सर्वप्रथम संपूर्ण अनुभव के देश-काल से विशेषित होने के सम्बन्ध में—प्रेम-द्वेष, काव्यात्मक, नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक और अन्य बौद्धिक अनुभव देश-काल से किस प्रकार सम्बन्धित हैं ? एक उत्तर हो सकता है कि सब अनुभव : चैत्त : काल में ही घटित होता है । किन्तु तब, कोई अनुभव देशात्मक नहीं होता । स्वयं डा. बालिंगे ही के अनुसार, "जब दो वस्तुएं पृथक् होती हैं तब वे मिल भी सकती हैं······ अर्थात् यह कहा जा सकता है कि वे परावर्तनीय हैं ।" (६) और यह बात डा. बालिंगे देश और काल में भेद करते हुए कहते हैं : अर्थात् देश और काल केवल विवेच्य ही नहीं हैं बल्कि विभेद्य, अलगाये जाने योग्य, भी हैं । यहीं (पृ. ५-६ पर) डा. बालिंगे एक और ग़ज़ब की बात भी कहते हैं । उनके अनुसार "जब हम काल-क्षणों की बात करते हैं तब वहां इस प्रकार की विभाज्यता नहीं मिलती। जो बात काल-गत वस्तुओं के बारे में सही है वह काल-क्षणों के बारे में सही नहीं है ।" सर्वप्रथम, देश-काल गुण हैं और वस्तुएं गुणी, तब 'देश-गत वस्तुएं' (थिंग्ज़ इन स्पेस) का क्या अर्थ है ? 'वस्तुगत देश' तो हो सकता है । इसी प्रकार, यदि काल केवल गुण ही हो सकता है तब 'शुद्ध काल' कैसे हो सकता है ? दूसरे, यदि काल विभाज्य नहीं है तब 'कालगत वस्तुएं' कैसे विभाज्य हो सकती हैं ? यदि कहें कि काल-गत वस्तुएं देश में विभाज्य हो सकती हैं, तो यह व्यर्थ बात होगी क्योंकि वह देशगत वस्तु-विभाजन होगा, कालगत नहीं । इन सब बातों का लेख में कहीं समाधान नहीं मिलता, जिस प्रकार किसी भी अन्य बात का नहीं मिलता, क्योंकि डा. बालिंगे युक्तिपूर्वक कोई बात कहते ही नहीं हैं ।

अब कालावधिकता के प्राप्ति-स्थान के सम्बन्ध में। डा. बालिंगे के अनुसार, यह बताना उनके लिए संभव नहीं है। किन्तु दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्हें सहज प्रतीत होता है, कि यह प्रमाणीकरण मानवीय अस्तित्व से, मानवीय जीवन से, मानवीय जीवन के काल से, तुलना के द्वारा होता है। किन्तु ऐसा क्यों ? गाड़ी की गति का ज्ञान हमें गाड़ी और पृथ्वी के सापेक्ष स्थिति-परिवर्तन से अधिक निश्चित रूप से प्राप्त होता है, स्वयं से तो तुलना में हम बहुत बार दूसरी गाड़ी चलती देखकर अपनी गाड़ी को चलती समझ लेते हैं। शुद्ध अर्थ-विचार की दृष्टि से यदि हम इसे देखें तो, 'मानवीय जीवन' से यहां क्या अभिप्राय है ? मनुष्य की आयु या मनुष्य की मृत्यु पर्यन्त की गति-विधि ? फिर, यदि 'मनुष्य-जीवन' 'मेरे जीवन' का वाचक नहीं है तो यह केवल एक उद्ग्रहण (एब्स्ट्रेक्शन) मात्र है। तब यह प्रमापक कैसे हो सकता है ? यदि इसका अर्थ 'मेरा जीवन' है तब, सन्ध्याकाल की कली का प्रभात में फूल-रूप में विकास क्या रात में मेरी नींद या अनींद का सापेक्ष होता है ? यदि डा. बालिंगे काल को कांट के समान चैत्तों का आकार कहते तब एक दूसरी बात होती। किन्तु शायद वे कांट से अपने को अलग रखने के लिए इसे 'मानव-जीवन की अवधि' कहते हैं। पर तब इसका अर्थ क्या है, यह वे नहीं बताते। कोई उदाहरण भी नहीं देते कि कुछ अनुमान किया जा सके कि उनका क्या अभिप्राय होगा।

इसके आगे वे एकाएक, अनुच्छेद तक बदले बिना, कहते हैं कि काल को : जीवन की लम्बाई (दीर्घता) को : बांटा नहीं जा सकता। पीछे (पृ. ६ पर) उन्होंने काल-क्षणों की अविभाज्यता और कालगत वस्तुओं की विभाज्यता की बात कही थी। तो क्या जीवन शुद्ध काल है, काल-गुण का गुणी नहीं ? यदि काल और जीवन की लम्बाई एक ही बात है तब आवधिकता के स्थान को आप और कहां खोज रहे हैं, वह यही तो हुआ—जीवन की लम्बाई ! मनुष्य की आयु !! किन्तु काल-क्षणों को, घटनाओं को, बांटा क्यों नहीं जा सकता ? इस कथन के पीछे आपका कोई कारणता-विषयक सिद्धान्त होगा जो आपको बताना चाहिए था। नहीं तो 'मैंने दोपहर १ बजे खाना खाया, अनन्तर ३ बजे तक अखबार पढ़ा और सोया, और तब उठकर पढ़ना आरम्भ किया' इसमें स्पष्ट काल-विभाजन है। यदि आप कहें कि, 'किन्तु मेरे जीवन का क्रम अटूट रहा, इन घटनाओं में तथाकथित पार्थक्य वास्तविक नहीं है, ये एक के बाद दूसरी निरन्तरता में घटित होती हैं', तो सही है, किन्तु तब हम कहना चाहेंगे कि वह अविभाज्यता देश में भी इसी प्रकार होती है; आपके अपने कथनानुसार 'प्रदत्त क्षेत्र से आगे का क्षेत्र······अनन्त तक जाता है।' दूसरे, काल के सन्दर्भ में भी, यह निरन्तरता अनुमित है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षतः तो एक घटना समाप्त होती और दूसरी आरम्भ होती है और तीन घटनाओं में पहली और तीसरी दूसरी से व्यवहित होती हैं। यदि निरन्तरता विषयक आपकी बात को स्वीकार कर लें तो आप घटनाओं और क्षणों को एक नहीं कह सकते, जो आप कहते हैं। यदि आप खाने आदि को घटनाएं नहीं कहकर वस्तुएं कहते हैं : जो अनर्थ की बात होगी : तो आप यह नहीं कह सकते कि काल वस्तुओं को विशेषित करता है, बल्कि यह कहना होगा कि वह इन्हें धारण करता है। वास्तव में, एक प्रकार से, अनजाने में आपने यही बात पृ. ६ पर कही है। उपर्युद्धृत के अन्तिम वाक्य में पुनः देश और काल के पार्थक्य का स्वीकार है।

आगे डा० बालिंगे इस सन्दर्भ में कांट का उल्लेख करते हैं और प्रकट करते हैं कि कांट का सिद्धान्त उन्हें अब ध्यान में नहीं है। वे कहते हैं कि "यह वास्तव में सत्य है कि हम देश और काल की अवधारणा वस्तुओं के सम्बन्ध से करते हैं। इसी से कांट ने इन्हें वस्तुओं के आकार कहा है।" (2) किन्तु कांट के आकार वस्तु की पूर्वकल्पनाएं हैं, वस्तु उनकी पूर्वकल्पना नहीं है कि उनकी अवधारणा वस्तु की अपेक्षा से की जाय। दूसरे, आकार और अवधारणा (कांसेप्शन) एक ही बात नहीं है। जैसे कहा जा सकता है कि "हम वस्तुओं की अवधारणा अपने से स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में करते हैं।" किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कांट में देश और काल केवल आकार ही नहीं हैं, जैसे कारणता है, ये साथ ही स्वयं भी संवेद-ग्राह्य(इन्ट्यूशंस्) हैं और वस्तुओं से निरपेक्षतः गम्य हैं। इसके आगे डा० बालिंगे यह स्पष्ट किये बिना कि वे कांट के सम्बन्ध में ही कह रहे हैं, कहते हैं कि "हम रिक्त देश और रिक्त काल की अवधारणा कैसे कर सकते हैं? मेरी मान्यता है कि देश और काल की सीमित अवधारणाएं हमें सीमितता से आगे ले जाती हैं और हम असीमित देश तथा असीमित काल का विचार करने लगते हैं जिनके कि हमारे स्थूल अनुभव के 'सीमित देश' तथा 'सीमित काल' भाग हैं, (तब) हम मानते हैं कि यह संपूर्ण एक ही देश और एक ही काल है" (जिसे कि विभक्त किया जा सकता है।) किन्तु तब यह स्पष्ट नहीं है कि लेखक की मान्यता क्या है। लेखक को आपत्ति है कि इस विभाज्यता पर से हम देश-काल को वस्तुएं मानने लगते हैं। किन्तु कौन मानने लगता है? यदि कोई देश-काल को मात्र विशेषण मानने के बजाय स्वतंत्र सत्ताएं मानता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उन्हें मेज़-कुर्सी जैसी वस्तुएं मानता है। और वास्तव में बहुत कम ही दार्शनिक होंगे जो मेज, कुर्सी, या पत्थर को भी डा० बालिंगे के समान वस्तुएं मानते हों। दूसरे, मान लें कि यह निष्कर्ष अयुक्त है, किन्तु जिस पर से यह निष्कर्ष है वह युक्त है या अयुक्त? आप यह स्वीकार करते हैं कि हमारा देश और काल का अनुभव सीमित देश और सीमित काल का अनुभव है, तब आप यह भी स्वीकार करने को बाध्य हैं कि इसमें 'सीमा के आगे असीम तक का अनुभव' भी संयुक्त है, नहीं तो सीमा का अनुभव हो ही नहीं सकता। किन्तु खंड की अवधारणा के लिए सीमित और सीमातिक्रामी के अनुभव की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह किसी भी देश-विस्तार और काल-विस्तार से उद्भूत हो सकती है; इस दृष्टि से एक जीवन, या एक दिन, या एक घण्टे का काल-विस्तार पर्याप्त है। और यदि एक जीवन का काल-विस्तार अविभाज्य रूप से अनुभवगम्य होता है तो सीमा और उसके आगे के विस्तार का अनुभव भी अखंडता-प्रदायक ही होगा।

अन्त में यहां एक आधारभूत प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि देश और काल भी वस्तु-गुण हैं, और वर्ण-गन्ध आदि तो गुण हैं ही, तब वस्तु क्या है, क्या भूत द्रव्य? डा० बालिंगे एकाध वाक्य में यह प्रश्न भी उठाते हैं और दूसरे एकाध वाक्य में इसका निराकरण भी कर देते हैं, और इसका पूरा ध्यान रखते हैं कि कहीं कोई युक्ति नहीं दी जाय। वस्तु और अवस्तु का विवेक वे विभाज्य और विवेच्य से करते हैं।

विभाज्य और विवेच्य के इस भेद को डा० बालिंगे बहुत अर्थगर्भित मानते हैं और कहते हैं कि वैशेषिक दार्शनिकों ने जबकि यह भेद देखा था उन्होंने इसकी सार्थकता की गहराई की पूरी थाह नहीं ली। डा० बालिंगे ने यह थाह लेने के क्रम में इसे दर्शन की ऐसी आधार-

भूत कसौटी के रूप में देखा है जिससे वस्तु-अवस्तु का भेद जाना जा सकता है और इस प्रकार तुरन्त देखा जा सकता है कि मूल सत् क्या है और आश्रित क्या है। जब यह सब जानने की कुंजी मिल गई तब दर्शन क्या है और विज्ञान क्या, यह जानना तो सहज ही हो जाता है। इस प्रकार डा० बालिंगे विभाज्य–विवेच्य के आधार पर बताते हैं कि विज्ञान और दर्शन में क्या भेद है।

उनके अनुसार "पारंपरिक रूप से, दर्शन मुख्यतः सत्ता की व्याख्या करता है। मेरी मान्यता है कि इस प्रसंग में 'व्याख्या' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस शब्द के अथवा अवधारणा के आधार पर ही दर्शन और विज्ञान में भेद किया जा सकता है, क्योंकि विज्ञान भी एक अर्थ में सत्ता को समझने से ही सम्बन्धित है। यदि हम पत्थर लेकर उसे खंडों में बाँटते हैं तो हम समझ लेते हैं कि पत्थर के खंड या कण पृथक् किये जा सकते हैं, कि पत्थर को विभक्त किया जा सकता है; हम यह भी समझ सकते हैं कि वह पत्थर ग्रेफाइट है या कि कच्चा लोहा, या हीरा। किन्तु यदि हमें समझे गए की व्याख्या करनी पड़े तब एक सर्वथा भिन्न प्रकार की क्रिया की, एक भिन्न प्रकार की विधि की, अपेक्षा होगी। जब हम पत्थर की प्रकृति की व्याख्या करते हैं, जब हम एक पत्थर को भेदते हैं, तब हम शब्दशः उसे तोड़ते हैं, किन्तु जब पत्थर की प्रकृति की व्याख्या करते हैं तब हम उसे तोड़ते नही हैं, तब हम केवल अनुभव को भाषा और अवधारणा में तोड़ते या अभिव्यक्त (एक्स्प्रेस) करते हैं। इस प्रकार का तोड़ना संप्रेषण, विवेचन, अवधारणीकरण (कांसेप्चुअलाइज़ेशन) के लिए आवश्यक है। जब हम व्याख्या करते हैं तब हम अपने अनुभव को भाषिक रूप में पुनर्व्यवस्थित करते हैं जिससे कि वह अर्थवान् और संप्रेषणीय बन सके।

"किन्तु बहुत बार दार्शनिकों ने इस प्रक्रिया को भौतिक प्रक्रिया के ही अनुरूप समझ लिया। भौतिक प्रक्रिया में जैसा हम तोड़ सकते हैं, खंडों में विभक्त कर सकते हैं, उसके खंडों को जोड़ भी सकते हैं। दार्शनिक विश्लेषण में हम अनुभव को (अवधारणाओं में) तोड़ सकते हैं किन्तु तोड़े हुए अंश केवल भौतिक एकक (यूनिट्स) नहीं होते जो पुनः एकत्र किये जा सकें। एक फूल सुगन्ध, कोमलता, आकृतिविशेष तथा वर्णविशेष आदि से उसी प्रकार नहीं बना होता जिस प्रकार वह पत्तियों, तने, कुंकुम आदि से बना होता है। दार्शनिक रूप से विश्लेष्य एकक विवेच्य होते हैं, वे भौतिक-रूप में पृथक् नहीं किये जा सकते; वे गुण होते हैं, वस्तुएं (या वस्तु-खंड) नहीं होते। इसलिए वे उस प्रकार से पुनः नहीं मिलाये जा सकते जिस प्रकार कभी-कभी भौतिक अंश (उदाहरण के लिए पारा) मिलाये जा सकते हैं। किन्तु तब भी दार्शनिक लोग अपने उत्साह में जगत् की पुनारचना (रीकंस्ट्रक्शन) या संश्लेषण करना चाहते है।" (3—5)

यहां पुनः इतना लंबा उद्धरण पाठकों को लेखक के लेखन का नमूना स्वयं देखने के लिए दिया गया है। यह उतना भ्रान्तिपूर्ण नहीं है जितना बेतुका है। इसमें कोई भी तो बात नहीं बनती ! क्या विज्ञान और दर्शन में यह भेद है कि प्रथम पत्थर आदि को तोड़ता है और दूसरा उसकी व्याख्या करता है ? तब बढ़ईगीरी या लोहारी में तथा काव्यालोचना या अपराध की जांच में और क्या अन्तर है ? दूसरे, व्याख्या का अर्थ अनुभव का शब्दों या अवधारणाओं में विश्लेषण कैसे है ? "सूर्य-ग्रहण क्यों होता है ?"

यह प्रश्न विज्ञान का है या दर्शन का ? यदि विज्ञान का तो इसमें "भौतिक रूप से" तोड़ने-जोड़ने की क्या बात है ? यह क्या व्याख्यापेक्ष नहीं है ? यदि है, तो यहां अनुभव का अवधारणाओं में विश्लेषण कहां होता है ? दूसरे, ऐसे कौन निगोड़े दार्शनिक हैं जो दार्शनिक विश्लेषण को भ्रांतिवश पत्थर तोड़ने के जैसा समझते हैं ? ऐसे बालिश दार्शनिक कौन हैं जिन्हें डा० बालिंगे को यह बताने की आवश्यकता है कि अनुभव को अवधारणाओं में तोड़ने की प्रक्रिया पत्थर को तोड़ने की प्रक्रिया जैसी नहीं होती ? किन्तु इस भेद से यह कैसे आपादित होता है कि आप अवधारणाओं में विश्लेषण कर उसे पुनः संश्लेषित, बल्कि कहें एकीकृत, नहीं कर सकते ? उदाहरणतः "मेज़ गोल है" वाक्य इन्द्रियगोचर एक सरल स्थिति को उद्देश्य-विधेय में विभक्त करता है। दार्शनिक यदि यह दिखाता है कि यह विभाजन भाषाकृत है, अन्यथा यह एक अविभक्त स्थिति है, तब यह वाक्य अनुद्भिन्न अथवा अविश्लिष्ट एक का उद्भिन्न अथवा विश्लिष्ट एक रूप हो जाता है।

इसी प्रकार, दार्शनिक पुनारचना में क्या दोष है यदि कोई उसे ईंटों के ढेर से मकान बनाने के जैसा कर्म नहीं समझे तो ? और ऐसा कौन दार्शनिक है जो ऐसा समझता है ? अवश्य फूल के वर्ण, गन्ध, कोमलता आदि विभाज्य नहीं हैं, किन्तु तब ये उस प्रकार विवेच्य भी कैसे हैं जिस प्रकार फूल की पत्तियों का संस्थान (पैटर्न) और फूल की आकृति विवेच्य हैं ? आप थोड़ी दूरी पर खड़े हो जाएं, तब आप फूल का रंग तो देखेंगे किन्तु उसकी गन्ध और कोमलता ग्रहण नहीं करेंगे। फूल के सूख जाने पर फूल का कोई न कोई रंग तो रहेगा किन्तु गन्ध और कोमलता नहीं रहेंगी। किन्तु मानलें कि ये गोचर गुण विवेच्य ही हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार पत्तियों का संस्थान और फूल की आकृति, किन्तु इन विवेच्यों का, या इनके विवेचन का दर्शन से क्या सम्बन्ध है ? फिर, भौतिक अंशों या खंडों का जोड़ना आप **कभी कभी संभव** मानते हैं, किन्तु यदि यह कभी-कभी संभव है तब यह भौतिक का स्वभाव तो नहीं हुआ, यह एक प्रयोग-गम्य, या कहें आनुभविक बात हुई जो दर्शन का क्षेत्र नहीं है, अवर स्तर के विज्ञान का है। और तब आप इन दो प्रकार के : जो तोड़ कर एकीकृत किये जा सकते हैं और जो इस प्रकार एकीकृत नहीं किये जा सकते : भौतिकों में भेद कैसे करते हैं ? वे भौतिक वस्तुएं, तो हैं और जो इस प्रकार जो तोड़ मिलायी नही जा सकती, इस बात में अवधारणाओं के समानक्यों नहों हैं ?

दूसरा लेख इसी विषय पर होने पर भी उसमें पहले लेख का कोई उल्लेख नहीं है। यह उससे पूर्णतः स्वतंत्र होने से इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि यह पिछले की बात आगे बढ़ाए। किन्तु पिछले लेख से इसमें इतना आगे बढ़ा गया है कि इसमें विभाज्यता के दो भेद कर दिये गए हैं; एक, जिसमें एक वस्तु दो या अधिक खंडों में तोड़ी जाती है और दूसरा जिसमें दो वस्तुएं एक-दूसरे से अलग की जाती हैं। अलग करने का उदाहरण है "जैसे छाता और फूल एक-दूसरे से अलग किये जाते हैं।" (पृ०१) किन्तु यदि वस्तु मात्र-भौतिक है तब सभी वस्तुएं समान रूप से खंडनीय और समान रूप से पृथक्करणीय होनी चाहिएं। उदाहरणतः छाता भी खंडित किया जा सकता है और फूल भी, इसी प्रकार, पत्थर के दो खंड पृथक्करणीय होते हैं। इसमें आपको क्या कहना है ? डा० बालिंगे ने इस पर कुछ नहीं कहा, किन्तु हमने पीछे इनमें भेद की ओर संकेत किया है।

इस लेख में इस थोड़े सुधार के अतिरिक्त बालिंगे जी के चिन्तन के कुछ और दोष प्रकट हुए हैं। अब हम संक्षेप में इन पर विचार करेंगे। वे कहते हैं—कोई वस्तु दैशिक गुण के कारण विभाज्य होती है। इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि, "हम वस्तुओं और बिन्दुओं दोनों के देश में होने की बात करते हैं किन्तु वास्तव में वे दोनों एक ही प्रकार से देश में नहीं होते। दो वस्तुएं जबकि दैशिक स्थिति बदल सकती हैं, बिन्दु यह नहीं बदल सकते।" इसके आगे वे कहते हैं कि "दैशिक गुणों से युक्त वस्तु तो विभक्त हो सकती है किन्तु देश नहीं।............ज्यामितिक भाषा भी निहित रूप से देश में वस्तुओं की विद्यमानता के आधार पर अर्थवान् होती है।.........इस प्रकार शुद्ध देश की असीमतः विभाज्यता का कोई अर्थ नहीं बनता। वास्तव में देश में हम बिन्दुओं को विभक्त नहीं करते, उन्हें हम विवेचित (डिस्टिंग्विश) करते हैं।.........दर्शन के इतिहास में जिसे देश की असीम विभाज्यता कहा गया है वह वास्तव में देश की असीम विवेच्यता है। देश का यह गुण (विवेच्यता) ही वस्तुओं की विभाज्यता को संभव बनाता है। किन्तु इस प्रतिज्ञप्ति से कि 'देश असीमतः विवेच्य' है यह आपादित नहीं होता कि वस्तुएं भी देश में असीमतः विभाज्य हैं।" (१५–१६)

अब इन विभिन्न प्रस्थापनाओं को लें: क्यों ऐसा है कि वस्तुएं देश में स्थान बदल सकती हैं और बिन्दु नहीं बदल सकते? इसका कारण बालिंगे जी नहीं बताते, तब या तो वे देश की ज्यामितिक कल्पना को अस्वीकार कर आइंस्टाइनीय सापेक्ष गति-मूलक कल्पना की बात करते, या फिर देश को वस्तु-मूलक नहीं कहते। देश की उस कल्पना के अनुसार जिसमें युक्लिडीय ज्यामिति संगत है, बिन्दु इसलिए स्थान नहीं बदल सकते क्योंकि वे स्वयं **देश में स्थान** के ही वाचक हैं और देश वस्तुओं के आयतन का धारक शुद्ध और निरपेक्ष आयतन है। वस्तुओं की अपेक्षा से बिन्दुओं को उद्‌गृहीत आयतन में उद्‌गृहीत स्थिति भी कह सकते हैं। वस्तु स्थिति नहीं है, वह स्थिति-विशेष में गोचर गुणों से लक्षित अवयवी है जिसके लिए स्थिति-विशेष आगन्तुक है। ऐसा भी कह सकते हैं कि वस्तु इसी कारण स्थान-परिवर्तन कर सकती है क्योंकि बिन्दु स्थान-परिवर्तन नहीं कर सकते।

दूसरी प्रस्थापना देश की अविभाज्यता-विषयक है। यह प्रस्थापना तोड़ने, खंड-खंड करने के साथ जुड़ी ठोस-पृथुल वस्तु की कल्पना तथा हथौड़े से चोट करने के कर्म की कल्पना पर आधारित है, अन्यथा यदि वस्तु का विभाजन उसके देश-गुणमूलक है तब विभाज्यता इस गुण का लक्षण होगा न कि वस्तु का। उदाहरणतः एक दंड को लें और उस पर कुछ निशान लगाएं, जहां जहां से हम उसे काटेंगे। अब दंड की यह विभाज्यता यदि उसके वर्ण, कठोरता, उष्णता आदि के कारण नहीं है, केवल विस्तार के कारण है, तब यह दो बिन्दुओं के बीच की रेखा के अतिरिक्त और क्या है? यह सही है कि वस्तुतः न तो वर्ण विस्तार के बिना होता है और न विस्तार वर्ण और काठिन्य के बिना, और इस प्रकार मात्र वर्ण तथा मात्र विस्तार इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हैं। किन्तु तब "वस्तु" भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है यह बात दर्शन के स्नातक स्तर के छात्र को भी पता होनी अपेक्षित है, यह बात दूसरी है कि इसका ध्यान अध्यापक को भी नहीं रहे। आगे डा० बालिंगे बिन्दुओं की विवेच्यता की बात करते हैं। 'विवेच्य' पद का इससे भ्रांत प्रयोग और क्या हो सकता है? आप, अपने सिद्धान्त के अनुसार भी, यह तो कह सकते हैं कि देश और वस्तु परस्पर विभाज्य नहीं विवेच्य हैं

किन्तु यह कैसे कह सकते हैं कि देश में बिन्दु विवेच्य हैं ? डा. बालिंगे देश-विषयक जिस सिद्धान्त के आधार पर यह सब गड़बड़झाला कर रहे हैं उस सिद्धान्त के अनुसार देश वस्तुओं से उद्ग्रहण (एब्स्ट्रैक्शन) है, वास्तव देश वस्तुओं में परस्पर दैशिक सम्बन्ध है। किन्तु इस सिद्धान्त में आप यह नहीं कह सकते कि देश में बिन्दु विवेच्य होते हैं, इसमें यही कह सकते हैं कि बिन्दुओं की परस्पर दूरी वास्तव में वस्तुगत विस्तार में दो निर्धारित स्थलों की दूरी है। डा. बालिंगे बिन्दुओं की विवेच्यता की बात देश को वस्तु-गुण मानकर कर रहे हैं। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, वस्तु-गुण वस्तु से विभाज्य नहीं होते, किन्तु वे विवेच्य भी नहीं होते। किन्तु यदि देश को गुण और इस प्रकार विवेच्य मान भी लें तो भी उसमें बिन्दु विवेच्य नहीं हो जाते। देश यदि वस्तु से अविभाज्य भी हो तो भी अपने-आप में वह विभाज्य हो सकता है और तब बिन्दु उस अविभाज्यता की पर्यन्तता होंगे। किन्तु जब आप देश को गुण और अविभाज्य कह रहे हैं, और आपके अनुसार विवेच्य वस्तुतः पृथक्करणीय नहीं होकर कल्पनातः ही पृथक्करणीय : विवेच्य : होता है, तब आप उसकी अविभाज्यता को भी वास्तविक नहीं कल्पनात्मक ही कह सकते हैं; और तब वह देश बिन्दुओं में विवेच्य कैसे हो सकता है ? और यह असीम विवेच्यता क्या बला है ? असीम अविभाज्यता किसी विस्तृत वस्तु के विभाजन की भौतिक क्रिया का बौद्धिक कल्पना में आकलन होने पर उस बुद्धिगत क्रिया को रोकने के हेतु का अभाव होना है। विवेचन दो अवस्तुओं में अनुरूपता या विरूपता-मूलक तुलना के रूप में होता है। उसमें 'असीम' विशेषण वैसा ही है जैसा 'घट' के साथ 'विचारना' क्रिया का प्रयोग।

वे आगे कहते हैं कि 'बिन्दुओं के समान ही हम वस्तुओं में भी' विवेक कर सकते हैं। किन्तु इन दो विवेचनों में हमारी क्रियाएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।······इन दोनों में कुछ अनुरूपता निश्चित रूप से रहती है, और मेरे विचार में, ऐसा लगता है कि हम निरन्तर भाषिक वस्तु-नाम से भौतिक वस्तु-नाम पर संक्रमण करते हैं।" (१६) किन्तु डा. बालिंगे यहां यह भूल जाते हैं कि भौतिक वस्तुता विभाज्यता का आधार होती है, विवेच्यता का नहीं। देश उनके अनुसार केवल इसलिए विभाज्य नहीं है बल्कि विवेच्य है क्योंकि वह वस्तु नहीं होकर गुण है। तब वस्तु के विवेच्य होने के सम्बन्ध में यह कहना चाहिए कि जब दो वस्तुएं अपनी वस्तुता में गौण और धर्मता में प्रमुख होती हैं तब वे परस्पर विवेच्य होती हैं। किन्तु डा. बालिंगे यहां उलट बात कह रहे हैं—"भाषिक वस्तु-नाम से भौतिक वस्तु-नाम पर संक्रमण" की।

आगे डा. बालिंगे काल पर आते हैं और प्रश्न करते हैं कि "क्या हम काल के प्रसंग में, अथवा किसी भी अदैशिक विषय के सम्बन्ध में, 'विभाजन' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं ?" किन्तु यह प्रश्न ही ग़लत है। जब आप देश और दैशिक वस्तु में भेद करते हैं और केवल दूसरे को विभाज्य कहते हैं तब आप काल और दैशिक वस्तु को एक स्तर पर लाकर कैसे प्रश्न कर रहे हैं ? इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि "किसी चीज़ को मात्र काल में विभक्त नहीं किया जा सकता। जब कोई वस्तु किसी काल-क्षण पर विभक्त की जाती है तब वह देश में भी विभक्त की जाती है। जब कोई घटना कुछ काल अस्तित्व में रहकर किसी काल-क्षण पर समाप्त होती है तब हम सुविधा के लिए घटना के अंशों की भी

कल्पना कर सकते हैं। किन्तु हम घटनाओं को काल में बांट नहीं सकते। किन्तु घटनाओं की अपनी कालावधि (ड्यूरेशन) होती है और वह घटनाओं के तर्क से ही निर्धारित होती है। जो स्थूल नहीं है उसका विभाजन नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है कि काल में केवल अन्त ही होता है, विभाजन नहीं।" (१७)

अब द्रष्टव्य है कि भौतिक वस्तु का कोई खंड किसी क्षण पर कालात्मक रूप से विभक्त होता नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्षण काल की अविभाज्य अवधि है, और वस्तु-खंड देशात्मक है। खैर, आगे वे घटनाओं की विभाज्यता पर आ जाते हैं और यही उनका अभिप्राय है। अब यह समझ में नहीं आया कि घटनाओं का काल-क्रम और काल-विभाजन उनके देश में विभाजन को कैसे अनिवार्य करता है? उदाहरणतः 'बिजली चमकी, बादल गरजा, और वर्षा हुई, इससे भी अधिक, परशुराम का क्रोध राम के मधुर वचन से शान्त हो गया।' इनमें प्रथम उदाहरण में तीन भौतिक घटनाओं का अनुवर्तन है, दूसरे उदाहरण में मानसिक, मनोभौतिक और मानसिक घटनाओं का, और इनमें दो मानसिक घटनाएं: परशुराम का क्रोध और राम के मन में उस से उत्पन्न प्रतिक्रिया: दो पृथक् घटना–सन्तानों की घटक हैं। अब इन दोनों घटना-क्रमों में दैशिक विभाजन कहां होता है? अविभाज्यता और अन्त के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय के प्रसंग में विचार कर चुके हैं। यहां दूसरा उदाहरण हमने विशेष रूप से काल में विभाज्यता के प्रदर्शन के लिए दिया है। किन्तु यहां हम कुछ दूसरे पक्षों की ओर ध्यान आकृष्ट करेंगे: यदि प्रत्येक घटना की अपनी विशिष्ट कालावधि होती है तो वह अवधि घटनाओं के तर्क से कैसे निर्धारित होगी? क्योंकि इस तर्क की विषय तो वे सामान्य नियम के अधीन होकर होंगी। दूसरे, "घटनाओं की अपनी कालावधि होना" और "उनका घटनाओं के तर्क से निर्धारित होना" इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों का पृथक्-पृथक् या संयुक्त किसी भी रूप में क्या अर्थ है?

डा. बालिंगे 'ड्यूरेशन' शब्द का भी भ्रान्त प्रयोग करते हैं, जैसाकि उनके द्वारा प्रथम लेख में इसके 'पर्सिस्टेंस' के पर्यायवाचक के रूप में प्रयोग से और इस लेख में इस कथन से कि "हम यह मानते हैं कि भौतिक वस्तु में ड्यूरेशन होता है" प्रकट होता है। किन्तु ड्यूरेशन का अर्थ स्थायिता या अक्षुण्णता नहीं है, यह 'ड्यूरेबिलिटी' का लोक-प्रचलित प्रयोग है। काल-स्वभाव के दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ है वर्तमान क्षण की सद्यः अतीत से सद्यः भविष्यत् तक प्रलंबता, जो उस चेतना का स्वभाव है जो अध्यवसायात्मक नहीं है, जो अतीत को स्मृति-विषय के रूप में विजड़ित नहीं करती और भविष्यत् को सुदूर अनागत के कल्पना-विषय के रूप में स्थापित नहीं करती; दूसरे शब्दों में जो काल को अतीत, वर्तमान, भविष्यत् में बांटने में असमर्थ है। जहां तक 'भौतिक' का सम्बन्ध है, भौतिक स्वभावतः अकालिक है, वह चाहे याप्यमानता (ड्यूरेशन) के अर्थ में हो और चाहे अतीत-अनागत-निर्धारण के अर्थ में। स्वयं डा. बालिंगे भी यह स्वीकार करते हैं, जैसा कि पिछले लेख के प्रसंग में हम देख चुके हैं।

आगे पृष्ठ २० पर डा. बालिंगे ने लाइब्नीज़ के 'डिस्सर्निबल' शब्द की व्याख्या के प्रसंग में मोनाड का उल्लेख किया है और इसमें लाइब्नीज़ से उनका उतना ही अपरिचय प्रकट होता है जितना पिछले लेख में कांट से। उनके अनुसार "लाइब्नीज़ के लेखन में स्पष्ट संकेत

हैं कि उनके मोनाड्ज़ दैशिक गुण-युक्त हैं । किन्तु जब वे मोनाड की जैवता को प्रमुखता देते हैं तब वे (लाइब्नीज़) उसकी दैशिकता को वैसा महत्त्व नहीं देते । लाइब्नीज़ के मोनाड का वैशिष्ट्य या अवच्छेदक उसकी दैशिकता नहीं है बल्कि उसका जैव होना, स्पिरिट होना है ।" (पृ. २०) यद्यपि यहां आगे वे यह भी कहते हैं कि लाइब्नीज़ मोनाड को अदैशिक मानते हैं क्योंकि वे उसे अभौतिक मानते हैं, किन्तु उनके अनुसार यह विश्लेषणात्मक कल्पना (एब्स्ट्रेक्शन) है । डा० बार्लिंगे मोनाड को दैशिक और जैव किस आधार पर कहते हैं, समझ में नहीं आया । अपनी इस मान्यता का उन्होंने कोई आधार भी नहीं दिया, इस लिए यहां हम और कुछ नहीं कहेंगे सिवाय इसके कि मोनाड अनिवार्यतः और सैद्धान्तिक रूप से अदैशिक हैं । इसी प्रकार वे मोनाड को जैव (लिविंग) किस आधार पर कहते हैं ? दर्शन में 'स्पिरिट' शब्द का प्रयोग जैव के अर्थ में नहीं होता, प्रेतविद्या या नृतत्वविज्ञान में होता है : स्पिरिचुअल का सजीव से कोई भी, कहीं भी सम्बन्ध नहीं है और लाइब्नीज़ मोनाड को सजीव नहीं मानते । और अदैशिक वे उसे उसके भौतिक के विरुद्ध जैव गुण के कारण नहीं मानते । ऐसा वास्तव में कोई भी कैसे कह सकता है ? क्योंकि जीवन सर्वत्र देह से संयुक्त ही मिलता है । अदैशिक वे उसे शुद्ध चित् मानने के कारण ही मानते हैं, जैसे सांख्य पुरुष को मानता है । डा० बार्लिंगे कह सकते हैं कि वे लाइब्नीज़ की इस प्रकार व्याख्या अधिक युक्त मानते हैं । किन्तु यदि वे ऐसा करने का तनिक भी प्रयत्न करें तो पायेंगे कि वे उपहासास्पद हो रहे हैं ।

अब हम स्वातंत्र्य और मूल्य-विषयक लेखों पर संक्षेप से विचार करेंगे । संक्षेप इस लिए आवश्यक है क्योंकि यहां विस्तार के लिए अवकाश नहीं है । ये लेख ऊपर समीक्षित दो लेखों से भी अधिक विपन्न और अधिक शिथिल हैं । इन लेखों में लेखक विषय के मर्म तक जाना तो दूर, उसका कहीं छोर से भी स्पर्श नहीं कर पाता । यहां हम इन लेखों से केवल दो चार उद्धरण प्रस्तुत कर अपने इस कथन की सत्यता प्रदर्शित करेंगे, उन पर टिप्पणी अधिक विस्तार से नहीं करेंगे । इनमें पहला लेख "स्वातंत्र्य" पर है । इस लेख में उन्होंने भाषा-विश्लेषण का विशेष सहारा लिया है । सो, इस विधि से वे बताने का प्रयत्न करते हैं कि स्वातंत्र्य का स्वरूप क्या है । उनके अनुसार—"के लिए स्वतंत्र (फ्री टू)" पद से यह प्रकट होता है कि (१) स्वतंत्रता मूलतः एक क्रिया है: और कि (२) यह कर्त्ता तथा किसी अन्य वस्तु के बीच सम्बन्ध है, आदि । किन्तु ये दोनों प्रतिज्ञप्तियां किन्हीं सीमाओं के बीच ही सत्य प्रतीत होती हैं । सर्वप्रथम, "स्वतंत्रता" अपने मुख्य अर्थ में आत्म अथवा कर्त्ता का एक पर्याय (मोड), अर्थात् एक स्वतंत्र गुण है । पुनः, यद्यपि "स्वतंत्रता" की अवधारणा एक क्रिया के रूपमें की जाती है, जोकि वास्तव में वह है : जैसे, जब कोई मनुष्य चुनाव करता है : किन्तु "एक क्रिया के रूप में स्वतंत्रता" पद अधिक गहरे विचार की अपेक्षा करता है । यह उस अर्थ में क्रिया है जिस अर्थ में 'अस्तित्व में होना' (एग्ज़िस्टिंग–बींग) एक क्रिया है ।" (१४८)

'यहां दो बातें द्रष्टव्य हैं । प्रथम—के लिए स्वतंत्र' पद क्रियावाचक किसी भी प्रकार से नहीं है । यह पद क्रिया में कर्त्ता की स्थिति : मनःस्थिति या परिस्थिति : का वाचक है । जैसे "राम वन जाने अथवा नहीं जाने के लिए स्वतंत्र थे" वाक्य में । इसी प्रकार "राम का यह व्यवहार स्वतंत्र है" वाक्य में । इसे आप क्रिया-विशेषण भी कह सकते हैं, जैसे 'अमुक

का यह कार्य या व्यवहार स्वतंत्र है, हम ऐसा कभी नहीं कहते 'कि वह स्वतंत्रा रहा है।' दूसरी द्रष्टव्य बात है डा० बालिंगे द्वारा अपने प्रतिपादन के लिए दी गई युक्ति का रूप : स्वतंत्रता उसी अर्थ में क्रिया है जिस अर्थ में 'अस्तित्व में होना' क्रिया है। किन्तु क्या 'अस्तित्व में होना' क्रिया है भी ? और यदि है तो किस अर्थ में ? वह कौन सा अर्थ है जिसकी ओर डा० बालिंगे संकेत कर रहे हैं, यह सब क्या स्वतःस्पष्ट है ? स्वतः तो यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'दिस स्टोन एग्ज़िस्ट्स' में 'एग्ज़िस्ट्स' कोई क्रिया नहीं है यद्यपि इस पद की रचना क्रियात्मक है। इसकी क्रियात्मक रचना केवल अंग्रेज़ी भाषा की विशेषता है, हिन्दी में इसकी रचना क्रियात्मक नहीं है। हम कहते हैं 'इस पत्थर का अस्तित्व है।' किन्तु अंग्रेज़ी में भी '—टू फ्री' में फ्री क्रिया-पद नहीं है। किन्तु डा० बालिंगे '—टू फ्री (—के लिए स्वतंत्र) में 'स्वतंत्र' को क्रिया मानते हैं और इसके लिए युक्ति केवल यह देते हैं, और एक ही वाक्य में, कि यह इसी प्रकार की क्रिया है जिस प्रकार की अस्तित्व में होना (एग्ज़िस्टिंग) क्रिया है।

किन्तु डा० बालिंगे स्वातंत्र्य को मुख्य रूप से आत्मा का गुण मानते हैं। पर किस युक्ति से ? यह वे नहीं बताते। किन्तु युक्ति न सही, पर यह तो आप विचारें कि यदि यह आत्मा का गुण होगा तो आत्मा को वस्तु होना होगा !

क्रिया-विषयक युक्ति के विरुद्ध हमारी आलोचना के उत्तर में डा० बालिंगे कह सकते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ है चयन, और चयन क्रिया होने से स्वातंत्र्य एक क्रिया हो जाता है। किन्तु उन्होंने यह युक्ति नहीं दी है और यदि वे देते तो उन्हें सारा प्रतिपादन दूसरे प्रकार से प्रस्तुत करना पड़ता। किन्तु चयन के सम्बन्ध में जो सामान्यतः समझा जाता है वह यह कि इसका स्रोत कर्त्ता की चयन-सामर्थ्य है। डा० बालिंगे एक प्रकार से स्वातंत्र्य को कर्त्ता का गुण कह कर इसी का समर्थन कर रहे हैं, यह बात दूसरी है कि ऐसा वे कह नहीं सकते क्योंकि गुण उनके अनुसार केवल वस्तु के ही आश्रित होते हैं और वस्तु केवल भौतिक होती है।

आगे वे चयन और स्वतंत्रता को इस प्रकार परिभाषित करते हैं : "मनुष्य द्वारा उस वस्तु की इच्छा करने की संभावना जिसे वह पसन्द करता है, बहुत से विकल्पों को सोचना और उनमें से एक को चुनना, उसे स्वतंत्र बनाता है।" (१४९) अब यदि इसे थोड़ा ध्यान से देखें तो इसका लिचलिचापन प्रकट हो जाता है—"जिसे पसन्द करता है उसकी इच्छा करना" क्या होता है ? क्या जिसे हम नापसन्द करते हैं उसकी भी इच्छा करते हैं और फिर "इच्छा करने में" स्वातंत्र्य है या कि 'इच्छा होने की संभावना' में ? अवश्य यह सही है कि पसन्द को पसन्द करने, पसन्द की इच्छा होने, में कोई स्वातत्र्य नहीं है, किन्तु तब "पसन्द को पसन्द करने की संभावना" का कोई अर्थ ही नहीं है, उसमें स्वातंत्र्य की तो बात ही दूर है। इसी प्रकार अगला वाक्य है।

आगे डा० बालिंगे मोक्ष का प्रसंग उठाते हैं, अब यहां उसका निरूपण देखें : मनुष्य की जानने की इच्छा को बहुत बार मनुष्य की स्वतंत्र या मुक्त होने की इच्छा से सम्बन्धित किया जाता है। किन्तु जानने की सामर्थ्य, जिसमें कि अंशतः स्वतंत्रता भी सम्मिलित है, का स्वतंत्र होने की इच्छा से भेद करना आवश्यक है। स्वतंत्र होने की इच्छा कभी स्वतंत्र, मुक्त अथवा विश्व के साथ तदाकार होने में भी परिणत हो सकती है। इस प्रकार मोक्ष को, जिसमें

कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है और जिसमें कि मनुष्य की आत्मचेतन इच्छा, जोकि मनुष्य की आरंभिक स्वतंत्रता की सूचक (इंडीकेटिव) है, संकेतिक (हिंटिड) होती है।" (१५६) बहुत से और वाक्यों के समान इस वाक्य की रचना नितान्त सदोष हो। संभवतः वाक्य होना चाहिए : "इस प्रकार मोक्ष को, जिसमें कि स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है, उस स्थिति से भिन्न होना चाहिए जिसमें कि मनुष्य की आत्म-चेतन इच्छा, जोकि उसकी आरम्भिक स्वतंत्रता की सूचक है, प्रकट होती है।" किन्तु इस दोष की उपेक्षा करते हुए, यहां इस संपूर्ण प्रतिपादन की असंगतता और भ्रांतता द्रष्टव्य है। इसमें पहले वाक्य की "जानने की इच्छा" अगले वाक्य में "जानने की सामर्थ्य" हो जाती है, फिर 'ज्ञान की इच्छा और मोक्ष की इच्छा' में भेद इस आधार पर किया गया है कि यह इच्छा कभी स्वतंत्रता में परिणत हो सकती है किन्तु ज्ञान की इच्छा उसमें परिणत नहीं हो सकती। किन्तु ज्ञान की इच्छा ज्ञान में क्यों परिणत नहीं हो सकती और यह ज्ञान स्वातंत्र्य से अभिन्न क्यों नहीं हो सकता, जैसाकि अधिकांश भारतीय दर्शनों का मत है? इससे भी विचित्र है उनकी मोक्ष की परिभाषा— "विश्व के साथ तादात्म्य।" इससे पिछले अनुच्छेद में उन्होंने रियालिटी और ब्रह्म शब्दों का प्रयोग भी किया है जो ठीक है, किन्तु सत्, ब्रह्म और विश्व (यूनीवर्स) एक ही बात नहीं हैं। इसके आगे वे और भी उपहासास्पद बात करते हैं कि "मोक्ष स्वतंत्रता को सीमित करता है क्योंकि इसमें व्यक्तित्व का लय घटित होता है।" यदि यह मान भी लें कि स्वतंत्रता के लिए व्यक्तित्व अनिवार्य है तब मोक्ष स्वतंत्रता को सीमित कैसे करेगा? वह तो उसे समाप्त ही कर देगा। इसलिए कहना चाहिए कि मोक्ष में व्यक्तित्व का लय होने से स्वातंत्र्य की बात अप्रासंगिक ही हो जाती है क्योंकि स्वातन्त्र्य व्यक्तित्व को पूर्वापेक्षित करता है। किन्तु भारतीय दर्शनों, विशेषतः वेदान्त, सांख्य और बौद्धों ने व्यक्तित्व को स्वातन्त्र्य में बाधक माना है क्योंकि यह 'स्व' पर उपाधि है, व्यापकता में बाधक है, आदि। यदि आप इस सुदीर्घ और समृद्ध विचार-परम्परा को अस्वीकार करते हैं तो उसके लिए कोई युक्ति भी तो देनी चाहिए! अवश्य डा. बालिंगे ने आगे इस प्रश्न पर डेढ़-दो पृष्ठों में विचार किया है किन्तु उसे 'विचार' कहना वास्तव में उस शब्द का अपप्रयोग है। यहां हम उनके दो-तीन वाक्य और उद्धृत करेंगे जो उपर्युद्धृत के क्रम में, दो-तीन ही वाक्यों के बाद, हैं। वे कहते हैं "इस प्रकार यह अपनी विशिष्टता के निषेध का प्रश्न है। यह आत्महत्या का एक रूप है।......वैयक्तिक वैशिष्ट्य का आविर्भाव रियालिटी (यथार्थ या सत् ?) से दुराव से होता है। इस दुराव (एलिअनेशन) से दुराव मनुष्य को मुक्त, यथार्थ से अभिन्न बनाता है।"

इस उद्धरण के तीसरे और चौथे वाक्य को प्रथम दो के प्रकाश में ही समझना चाहिए। किन्तु अपने आप में इन सब वाक्यों का कुछ भी अर्थ नहीं बनता : रियालिटी से दुराव के निषेध, अर्थात् रियालिटी से तादात्म्य रीयल होने, में आत्महत्या क्यों है? या फिर वैशिष्ट्य या वैयक्तिकता को आप रियालिटी से दुराव क्यों कहते हैं? इस सब प्रतिपादन के लिए प्रोफेसर साहिब ने कोई व्यवस्था या युक्ति नहीं दी है। संभवतः इसके पीछे सार्त्र का विचार है जिसे डा. बालिंगे ने किसी व्यवस्थात्मक आधार के बिना ही ले लिया है।

मूल्य-विषयक लेख का शीर्षक है "मूल्य, मूल्य-वैविध्य तथा मूल्य-व्यवस्थाएँ।" तर्क देने के ढंग के जैसे कुछ उदाहरण हम पीछे दे आये हैं वैसे इस लेख में भी भरपूर मिलते हैं।

अथवा कहें, डा. बालिंगे का यही ढंग है। द्रष्टव्य है : "......संभवत: यह प्रश्न, कि मूल्यांकन किसके लिए? हमारे लिए एक दूसरे प्रकार से भी सहायक हो सकता है। जब हम कहते हैं कि कोई (विशेष) वस्तु मूल्यवान् है तब हम संभवत: न तो गुण की बात करते हैं, न वस्तु की, तब हम केवल मूल्यांकन की बात करते हैं। इस प्रकार, मूल्य न तो वस्तु है, न वस्तु का गुण, बल्कि मूल्यांकन की क्रिया है। ......मूल्यांकन-क्रिया मुख्य रूप से क्या है? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें हम वस्तु अथवा वस्तुस्थिति को स्वीकार करते हैं।" (१७८) यहां मूल्य के सम्बन्ध में तीन प्रतिपादन हैं, एक यह कि मूल्य का वास्तविक अर्थ है किसी के लिए मूल्यवान् होना; २. 'किसी के लिए मूल्यवान्' का अर्थ है कि, मूल्य वास्तव में मूल्यांकन-क्रिया है; और ३. मूल्य के मूल्यांकन-क्रिया होने का अर्थ है मूल्यवान् मानी जाने वाली वस्तु के प्रति स्वीकारत्मक अभिवृत्ति। किन्तु इन तीन में से किसी एक भी प्रतिपादन के लिये डा. बालिंगे कोई युक्ति नहीं देते। यदि उन्हें प्रतीत होना ही युक्ति हो तब बात दूसरी है। इस स्वीकृति वाली बात को वे थोड़ा आगे भी बढ़ाते हैं। वे कहते हैं "यह सही है कि सामाजिक गत्यात्मकता (डिनेमिज्म) उससे अधिक जटिल होती है जितना उपयु`क्त प्रतिपादन से प्रतीत होता है। उदाहरणत: यह कहा जा सकता है कि जब कोई समाज-सुधारक प्रचलित मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह करता है तब वह उन मूल्यों को स्वीकार नहीं करता बल्कि अस्वीकार करता है। किन्तु उस सुधारक या विद्रोही के मन में मूल्यों की कोई दूसरी व्यवस्था रहती है और वह इस स्वीकृति से ही प्रचलित मूल्यों को अस्वीकार करता है।" (वहीं) यहां प्रथम तो वह जटिलता द्रष्टव्य है जो डा. बालिंगे को दिखायी दी किन्तु उन्होंने पाठकों को नहीं दिखानी चाही। अब प्रतिपादन देखें : यदि स्वीकृति ही प्रचलित मूल्यों का आधार है और वही नये मूल्यों का, तब 'सुधार' शब्द का क्या अर्थ? किन्तु डा. बालिंगे साहिब पाठक को यहीं नहीं छोड़ते, वे निराशा के गर्त में पूरा डुबा कर ही छोड़ते हैं। वे कहते हैं : "यह संभव है कि कुछ लोग एक लकीर पर ही चलते चले जाते हैं। उदाहरणत: वे एक आचरण-नियमावली का, उसे पूर्णत: या अंशत: स्वीकार किये बिना, अनुसरण करते रहते हैं। ऐसी अवस्था में भी स्वीकार का कुछ अंश रहता है, यद्यपि वह अचेतन होता है। इस प्रकार हमें सामाजिक मूल्यों के अनुसरण और मूल्यों के चेतन रूप से स्वीकार में अन्तर करना पड़ेगा। यह प्रक्रिया अधिक स्पष्ट रूप से उन सामाजिक नियमों के प्रसंग में देखी जाती है जिनमें कि नियमों अथवा मूल्यों का अनुसरण चेतन रूप से स्वीकार करने से स्पष्टत: पृथक् देखा जा सकता है। सामाजिक नियमों का अनुसरण किसी सामाजिक प्रक्रिया के कारण होता है। स्वीकृति में कोई व्यक्तिगत पूर्वाग्रह होता है।" (१७९) सजग मूल्य-बोध की इतनी 'सुन्दर' व्याख्या न केवल हमने अन्यत्र पढ़ी ही नहीं बल्कि इस लेख को देखने से पहले हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कोई इतने जटिल और सूक्ष्म तत्त्व की इतने बालिश हल्केपन से व्याख्या कर सकता है। कबीर का एक दोहा है—"सुखिया सब संसार, खावै औ सोवै, दुखिया दास कबीर, जागै औ रोवै।" किन्तु अब उसे रोने की आवश्यकता नहीं है; उसे केवल यह समझने की आवश्यकता है कि उसमें और "खाने-सोने" वालों में केवल यही अन्तर है कि वे भेड़ें हैं और वह बघेरा है।

इस प्रतिपादन के बाद डा. बालिंगे को लगता है कि इससे तो मूल्य व्यक्तिगत रुचि के विषय हो गए। यह भी नहीं होना चाहिए। तब क्या किया जाय? तब वे कहते हैं कि "मूल्य के एक से अधिक व्यक्ति के लिये मूल्य हो सकने की कम से कम संभावना होना आवश्यक है।

जब तक अन्तर-विषयिता : विषयि-साधारणता (इंटर-सब्जेक्टिविटी) को स्वीकार नहीं किया जाता तब तक हम मूल्य अथवा मूल्य-व्यवस्था की बात नहीं कर सकते। "तब, हमारे पूर्वोक्त प्रश्न का कि, मूल्यवान् किस के लिए ? का उत्तर होगा, इसे केवल व्यक्तियों के लिए मूल्यवान् नहीं बल्कि व्यक्तियों के समुदायों के लिए मूल्यवान् होना चाहिए और इस प्रकार यह तर्कतः संभव हो जाता है कि यह सम्पूर्ण मानवता के लिए मूल्यवान् हो सके।" (१८०) सर्व-प्रथम, यदि समुदाय के लिए मूल्यवान् होना किसी बात को मनुष्य मात्र के लिए मूल्यवान् होने को तर्कतः संभव करता है तब व्यक्ति के लिए मूल्यवान् होना क्यों नहीं करता ? इस दृष्टि से व्यक्ति-सापेक्ष और समुदाय-सापेक्ष में कोई भी अन्तर कैसे है ? उदाहरणतः स्वाद सामान्यतः व्यक्ति-सापेक्ष होते हैं और फैशन तथा प्रथाएं समुदाय-सापेक्ष; किन्तु एक सीमा तक स्वाद भी समुदाय-सापेक्ष होते हैं। किन्तु ये दोनों ही सापेक्षताएं ईमानदारी, सच्चाई आदि नैतिक मूल्यों से समान रूप से भिन्न हैं। मूल्यों की अविषयि-निष्ठता या अन्तर-विषयिता इस बात में है कि तत्संबंधी प्रज्ञप्ति इस बात से निरपेक्षतः सत्य होती है कि उसे कोई स्वीकार करता है या नहीं ! यदि मूल्यों को मानव-मूलक भी मान लें तो भी उन्हें वस्तु-निष्ठ मानने में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उसका अर्थ होगा कि इस वस्तु का ग्रहण केवल मानव-स्तरीय चेतना ही कर सकती है—तब यह आगन्तुक है कि किसी समय विशेष पर उसे सब व्यक्ति स्वीकार कर रहे हैं या कोई भी नहीं कर रहा है।

अब यहां हम इस चर्चा को बन्द करेंगे। पाठक आपत्ति कर सकते हैं कि हमने इस प्रकार की पुस्तक की समीक्षा को इतना समय और स्थान क्यों दिया ? इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थनापूर्वक यही कहना चाहेंगे कि इसके लेखक हमारे मूर्धन्य अध्यापक, विचारक तथा लेखक के रूप में सुप्रतिष्ठित हैं। यह पुस्तक देखने से पहले हमारे लिए यह बात अकल्पनीय थी कि उनकी पुस्तक इस प्रकार की हो सकती है। इसलिए पाठकों को विश्वास दिलाने के लिए इस पुस्तक की इसी प्रकार विस्तार से आलोचना करना आवश्यक था।

यशदेव शल्य

पुस्तक–समीक्षा

मनुष्य और जगत्: वैदान्तिक अनुभव का नवोन्मेष
ले. यशदेव शल्य; इन्दु प्रकाशन, दिल्ली : पृ० सं १४९, मू० ४०

शुद्ध संस्कृतनिष्ठ तथा अर्थगंभीर हिन्दी में प्रस्तुत की गयी यह दार्शनिक रचना भारतीय दार्शनिक जगत् में एक मौलिक विचारक के रूप में अपना अनन्यसाधारण स्थान रखने वाले श्री यशदेव शल्य के अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी स्वतंत्र चिन्तन का नवोन्मेष है। इस रचना में कुल नौ लेख—जिनमें समान दार्शनिक दृष्टिकोण का सूत्र अनुस्यूत है—नौ अध्यायों के रूप में उपस्थित किये गये हैं। वेदान्तीय सिद्धान्तों की पारंपरिक पद्धतियों से चर्चा तो किसी भी लेख में दृग्गोचर नहीं होती, केवल ८ वें अध्याय—जिसका शीर्षक 'मनुष्य, समाज तथा इतिहास-विषयक वैदान्तिक अवधारणा' है—में वेदान्त की भूमिका के समर्थन का प्रयास पारंपरिक तर्कों तथा विचारों को नये रूप में प्रस्तुत कर किया हुआ दिखाई पड़ता है। 'धर्म-दर्शन' तथा 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' ये ७वें व ९वें लेख या अध्याय भी वेदान्तीय विचारों की प्रत्यक्ष चर्चा नहीं करते किन्तु इनमें प्रकट दार्शनिक दृष्टि मूलतः वेदान्तीय ही है। 'कला-सर्जन' इस ४र्थ लेख का विषय कला-कृतियों का स्वरूपाविष्करण है। यह भी वेदान्तीय भूमिका के पूर्वाभ्युपगम पर ही आधारित माना जा सकता है। शेष पांच लेख 'मनुष्य और जगत्,' 'आत्म और अनात्म,' 'जगद्वासना,' 'जगच्चैतन्य: चैतन्य का जगद्विवर्त' तथा 'प्रत्यङ्मुख चैतन्य: दर्शन का आरंभ-बिन्दु' ये वेदान्तीय दृष्टिकोण को परिष्कृत तथा नावीन्य-पूर्ण ढंग से सम-सामयिक दार्शनिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। सभी लेख बहुत कुछ सूत्र रूप में विचारों को उपस्थापित करते हैं जिससे सरसरी तौर पर उन्हें पढ़कर कुछ समझ पाना नितांत असंभव है। आज-कल अंग्रेज़ी में जो दार्शनिक लेखन-शैली प्रचलित तथा लोक-प्रिय बनी हुई है उसे शल्य जी अपनाते तो पुस्तक की पृष्ठ संख्या अभी जो है उससे चौगुनी हो जाती। इससे पुस्तक की आकर्षकता अवश्य बढ़ जाती। अत्यंत भ्रष्ट मुद्रण के कारण पुस्तक को एकाग्रता

से पढ़ने वाले को भी उसके अभिप्राय के आकलन में बड़ी कठिनाई होती है। किन्तु विचार-गांभीर्य पुस्तक के प्रत्येक परिच्छेद में इतना ओतप्रोत है कि दर्शन के प्रति आस्थावान् कोई व्यक्ति पुस्तक की अनेकानेक कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए भी उसे आदि से अंत तक पढ़ लेने के मोह का संवरण नहीं कर सकता। इस समीक्षा में प्रत्येक लेख में उपनिबद्ध विचारों का सामान्य रूप से ही सर्वेक्षण तथा समालोचन प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे चिंतनशील पाठकों का मूल लेखों की ओर ध्यान आकृष्ट हो। यथोचित सर्वेक्षण के लिये तो कम से कम प्रस्तुत लेख से चार-पांच गुणा बड़ा लेख लिखना आवश्यक होगा।

इस संग्रह के अंतर्गत पहला लेख 'मनुष्य और जगत्' यह है जिस पर से पुस्तक का नामकरण हुआ है। इसमें 'मनुष्य,' 'जगत्' तथा इनके 'सम्बन्ध' के स्वरूप के विषय में अतीव मौलिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जगत् में पत्थर, फूल, बर्तन, पुस्तक, गाय, मनुष्य जैसी वस्तुओं का समावेश है। क्या ये एक ही प्रकार के पदार्थ या विषय कहे जा सकते हैं? नहीं। ये आत्म-विश्रांत बाह्य-इन्द्रिय-विषय न होकर विभिन्न प्रयोजन, आकार आदि प्रत्ययों के देहावतरण, या स्थूल आविष्कार कहे जा सकते हैं। जगत् को देश (कालात्मक) लोक—(रचना) के रूप में देखने की अपेक्षया अनेक लोकों की स्तर-रचना के रूप में देखना ही अधिक युक्ति-संगत है। मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में भी रूढ़ धारणाएं स्वीकारार्ह नहीं हैं। मनुष्य जगत् के प्रति राग, विराग तथा उभयात्मक वृत्तियों से उपहित साहंकार चैतन्य है और इसका किसी न किसी प्रकार का आत्माभिव्यक्ति-परक आविष्कार जो विश्व में सतत हुआ करता है वही मनुष्य और जगत् के विभिन्न स्तरीय सम्बन्धों का स्वरूप है।

इस विवेचन के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि यदि मनुष्य-चैतन्य की विभिन्न स्तरीय आत्माभिव्यक्ति ही तथाकथित विविध पदार्थों के माध्यम से घटित होती है तो एक प्रकार से विश्व को इस चैतन्य का बाह्य रूप ही मानना उपयुक्त होगा। पदार्थों में अवगुंठित प्रत्यय भी मनुष्य के अहंकार से ही साक्षात् या परंपरया प्रादुर्भूत मानने होंगे। तब विश्व की विषयि-निरपेक्ष सत्ता के सम्बन्ध में लेख के अंत में शल्य जी जो कहते हैं कि मनुष्य के—'रागात्मक, विरागात्मक तथा राग-विरागात्मक सम्बन्ध में मूलित जगत् को, जिसकी प्रतिष्ठा "अहंकारातिक्रमण और पुरुषोल्लेखिता में है……सर्वथा आत्म-सर्जन का क्रम कहा जा सकता है" यह कैसे संगत होगा? क्या विषयाधारित आत्म-सर्जन अहंकारातिक्रमण है? यहां स्पष्टीकरण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

दूसरा लेख 'आत्म और अनात्म' शीर्षक है। इसमें 'आत्म' और 'अनात्म' के रूप में पुनः 'मनुष्य' और 'जगत्' का ही दूसरे ढंग से, या कहें कि इन से बाहर होकर, एक अतिक्रामी दृष्टिकोण से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आत्म जगद्-भावापन्न चैतन्य है। जगद्-भाव चेतना के देहेन्द्रियाधिष्ठित या अन्तःकरणाधिष्ठित होने से घटित या संवर्धित होता है। जगद्भाव में आत्म अप्रकट या विषय-विनियुक्त रूप में विद्यमान होता है। इस संदर्भ में शल्यजी का एक सूक्ष्मेक्षिका पूर्ण वाक्य (पृ० १७) विशेष मननीय है—"किन्तु आत्म न संवेद्य विषयों में एक विषय के रूप में………न मनोवैज्ञानिक स्तर के अहंपरक अनुभव के रूप में, न संस्कार-प्रवाह के संयोजक के रूप में ही अभिप्रेत है। जगद्भाव की अवस्था में यह आहंकारिक उपाधियों के रूप में………और जगन्निवृत्ति की अवस्था में यह उस अनिवार्यता के रूप में अभि-

प्रेत है जो सब आगन्तुकताओं का अतिक्रमण कर.........आहंकारिक उपाधियों की अनात्मता को प्रकट करता है।

"इस प्रकार सभी निवारणीय आत्म अनात्म या 'आत्मगत दोष' है और दोष का बोध अदुष्टता के बोध-पूर्वक होता है। दोष...आत्मा में.........एक अन्तर्गत विदेशी तत्त्व की विद्यमानता है। किन्तु यह उसकी आत्मा नहीं है, क्योंकि यदि यह आत्मा होता तो इसके सदोष होने का कोई अर्थ नहीं होता।.........अदूष्य की पूर्वता कालात्मक नहीं है, यह सत्तात्मक पूर्वता है।"

इन अन्वर्थ उद्धरणों पर से, आत्म और अनात्म के स्वरूपाविष्करण के द्वारा मनुष्य और जगत् के स्वरूप का ही दूसरा पहलू प्रकाश में आता है। जगत् अनात्म अतः निवर्तनार्ह आत्म-दोष है जो आगन्तुक है। मनुष्य या मनुष्य-देहधारी चैतन्य वह अतिक्रामी सत्ता है जो सब प्रकार की अतिक्रामी उपाधियों के निरास-क्रम में विनियुक्त रहता है।

पहले और दूसरे लेख के विवेचन तथा निष्कर्षों में सामंजस्य प्रस्थापित करने के लिए यह स्पष्टीकरण यहां आवश्यक है कि आत्माभिव्यक्ति या आत्मसर्जन की प्रक्रिया तथा अनात्मभूत उपाधियों के क्रमिक निवर्तन की प्रक्रिया मूलतः एक ही है। किसी भी विषय-स्तर में आत्माविष्करण उससे अवरस्तरीय विषय या अनात्म से निवर्तन-स्वरूप ही हुआ करता है। जैसा योगसूत्र में कहा है, समाधि या चित्तवृत्ति-निरोधरूप योग चित्त का सार्वभौम—सभी चित्त-भूमियों—में अनुप्रविष्ट धर्म है।

तीसरा लेख 'जगद्-वासना' यह है। जगद्-वासना विषय-प्रवर्तन-वासना है जो स्वयं सविषया न होकर भी विषयापेक्षी है तथा अहंकार और विषयों के आविर्भाव की हेतु होती है। "वासना का यह भी लक्षण कहा जा सकता है कि यह पूर्णता के लिये व्याकुल अपूर्णता है ....इस पूर्णता में सर्वत्र पूर्णन की व्याकुलता नहीं है। यह केवल उस जीव के स्तर पर ही है जो ज्ञान को भी जानता है। वासना या अपेक्षा को चैतन्य का भाव नहीं कहा जा सकता, यह चैतन्य में स्वरूपगत पूर्णता की अपेक्षा से ही हो सकती है।.........चैतन्य का अप्रत्यङ्-मुख भाव ही उसका अशुद्ध भाव है जिसमें वह आत्मकृत व्यवधान को वास्तविक रूप में ग्रहण कर उसमें आत्म-विस्मृत रहता है।.........जहां तक जड़ तत्त्व का प्रश्न है, वह वास्तव में कोई भाव नहीं है, उसका निर्देश केवल **आत्मव्यवहित अव्यवहितत्व, अथवा कहें उत्क्रमित व्यवहितत्व** के द्वारा ही किया जा सकता है।"

वेदान्त-संमत अनादि वासना का जितना सुन्दर तथा मर्मग्राही विश्लेषण इन उद्धरणों में किया गया है वैसा शायद ही किसी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रंथ में उपलब्ध हो। विशेष कर अंतिम उद्धरण के अधोरेखांकित (मेरी अधोरेखायें) शब्द याद रखने योग्य हैं।

जगद्-वासना का यह स्वरूपाविष्करण अतीव बुद्धिरंजक है। यदि दो अन्य तथ्यों का स्पष्टीकरण भी इस के साथ जोड़ दिया जाता तो यह लेख सर्वांग सुन्दर हो जाता। एक तथ्य वासना की अनिर्वचनीयता है, और दूसरा वस्तुमात्र में संनिविष्ट ज्ञानमीमांसीय, तत्त्वमीमांसीय, तार्किक तथा मूल्यात्मक सापेक्षता या अपूर्णता है जिस के रूप में वासना, या जिसे बौद्ध 'आलय विज्ञान' कहते हैं, उस का विवेचन यहां प्रसंगोपात्त होता।

चतुर्थ लेख का शीर्षक कला—सर्जन है।'सर्जन' शल्य जी के अनुसार 'चित् द्वारा सत् में

स्वातंत्र्य का निरूपण है, सर्जन में चित् का स्फुरण और द्वैत का आविर्भाव युगपद् होता है किन्तु द्वैत के आविर्भाव के साथ चित्-स्वातन्त्र्य प्रतिबद्ध हो जाता है। इस से चित् के लिये उसमें आत्मनिरूपण प्रयत्नसाध्य हो जाता है। कला-सर्जन यह एक प्रकार का विमर्श है जिसका विषय (भावनात्मक विषयी द्वारा) विषयिमूलक भावना होती है। "कला भावना को उसके विषयि-निष्ठ रूप में ही उसे अहंकारोपाधि से मुक्त कर प्रेक्षण के लिए उपलब्ध करती है। व्यक्ति-मूलक भावना का व्यक्तित्वमुक्त विषयिगत भावना के रूप में उपभोग और इस भोगित्व का आत्मविमर्श ही कलात्मक विमर्श है। जब किसी दृश्य से दर्शक के भावलोक में भोगित्वमूलक प्रेक्षकत्व का उन्मेष होता है तब वह दर्शक कला-बोध में स्थित होता है।" इसी प्रकार "जब बाह्य दृश्य अपनी गोचर वस्तुता की अपेक्षा उससे उन्मिषित किसी······भाव के अलौकिक प्रकाश में अपनी वस्तुता से मुक्त होकर प्रस्तुत होता है तब वह कलाबोध का विषय होता है।"

शल्य जी की भूमिका यहां या तो अस्पष्ट है या संभ्रमपूर्ण है। भोगित्व-मूलक प्रेक्ष-कत्व से तात्पर्य वास्तव में 'व्यक्तित्वाभिमान-विरहित तथा कला-वस्तु के साथ आनन्दांश में अभेदापन्न विषय-विषयिसाधारण स्वरूप से ही होना चाहिये। ऐसे स्वरूप के लिये प्रेक्षकत्व शब्द कहां तक उपयुक्त होगा? उक्त वाक्य को पृ० ४० के प्रारंभ के एक वाक्यांश "इस भोगित्व का आत्म-विमर्श ही कलात्मक विमर्श है" से मिलाकर पढ़ने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कलात्मक बोध का विषय 'भोगित्व' है। क्या यह निष्कर्ष स्वीकारार्ह है? एक तो इस में कला-वस्तु अलग पड़ जाती है या उसका महत्त्व कला में गौण हो जाता है; दूसरे, भोगित्व रसिक के मानस की एक स्थिति विशेष या आगन्तुक धर्मविशेष है जिसे किसी भी प्रकार कला-बोध का विषय नहीं माना जा सकता। तीसरे, कला-बोध में एकतानता विद्यमान होने पर भी वह आत्म-निमग्नता की सी स्थिति होती है ऐसा प्रतीत नहीं होता।

"जगत् चैतन्य: चैतन्य का जगद्विवर्त" यह पंचम लेख है। चैतन्य की अपरिभाष्यता तथा उसकी विषय-बोध, विचार, वेदना, वासना आदि स्थितियों का प्रारंभ में निरूपण कर शल्यजी चैतन्य की अन्य दो अवस्थाओं का भी यहां निर्देश करते हैं। इनमें से एक वेदना तथा ऐन्द्रिकता-रहित शुद्ध रचनात्मक वासना से निवर्तन के प्रयत्न की अवस्था कही जा सकती है। यदि चित्-सृष्टि चैतन्य का विषयोन्मुख प्रवर्तन है तो इसके समानान्तर एक और क्रम दृष्टि-गोचर होता है जिसे चैतन्य के विषय-भावसे निवर्तन का क्रम कह सकते हैं। किन्तु यदि चैतन्य का लक्ष्य विषय की ग्रंथि से मुक्ति-लाभ करना है तब ज्ञान का साध्य विषय न होकर विषयी का आत्म-स्वरूप विमर्श ही हो सकता है। मानव-संस्कृति ही (इस दृष्टि से विचार करने पर) चैतन्य के आत्मोन्मु अन्वेषणख की एक यात्रा मानी जा सकती है जिसकी क्रमिक मंज़िलें काव्य, कला, शास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि आत्म-प्रवास-बोध-जन्य उत्कंठा और आत्म-साक्षा-त्कार की अभीप्सा को व्यक्त करने वाली हैं। "अवधारणायें और उनके सम्बन्ध चैतन्य की अन्त-र्मुखीन वृत्ति में संकेत बनकर उसके उद्भासक होते हैं। यह उद्भासन स्वरूप-चैतन्य की उस प्रत्यङ्मुख अवस्था का हैं जो विविध वृत्तियों को अपने में उपसंहृत करती है। यह उपसंहरण जब सभी वृत्तियों का एक-साथ होता है तब जो ऐश्वर्य प्रकाशित होता है उसका आभास हम बुद्ध की उस करुणा में पाते हैं जो प्राणि मात्र की अविद्या के प्रति द्रवित है और इस प्रकार प्राणियों की अविद्या का अतिक्रमण करती है। चैतन्य के प्रत्यङ्मुख आत्मदर्शन का अन्तिम

चरण वृत्तियों और क्रियाओं का आत्म-साक्षात्कार में उपसंहरण तथा उनका अधिष्ठातृत्व-पूर्वक विजृंभण है।" इस सारे विवेचन में खटकने वाली एक छोटी सी ही बात है जिसका ऊपर निर्देश आया है : प्रत्यङ्मुख चैतन्य को निवर्तक, अतिक्रामी कहते हुए ही उसमें सब वृत्तियों के उपसंहार की भी बात शल्य जी करते हैं। यह कैसे संभव है यह ठीक समझ में नहीं आता।

'प्रत्यङ्मुख चैतन्य : दर्शन का आरम्भ-बिन्दु' यह छठा लेख पांचवें लेख में चर्चित विषय को ही दर्शन के स्वरूप-विचार के बहाने आगे बढ़ाता है। दर्शन की विशिष्टता को विषद करते हुए आरम्भ में ही शल्य जी यह मार्मिक कथन करते हैं कि "दर्शन स्वरूपतः एक मूलगामी-प्रत्यङ्मुख ज्ञान-विधा है और अपनी प्रत्येक गति में यह अपने मूल की ओर अभिक्रमण करती है। ...यह (दर्शन) विषय-मूलक व्यवस्था ही नहीं है। यह ज्ञान का आत्मोन्मुख व्यापार है जो निरन्तर अपने आरम्भ-बिन्दु से आरम्भ कर उसी पर लौटता है।" "आत्मोन्मुख ज्ञान-व्यापार अपर्यवसायी है। चैतन्य का आत्मोन्मुख किसी भी प्रकार का व्यापार : वह ज्ञानात्मक हो, कलात्मक हो या मननात्मक, ज्ञान में विषयि-निष्ठता का, कला में वैयक्तिक विषयिता का और मनन में एषणाओं का अतिक्रमण किये बिना नहीं रहता। इसी कारण आध्यात्मिक मूल्यान्वेषण, जैसे भक्ति या अन्य प्रकार की आध्यात्मिक साधना, को व्यक्ति-परक समझना बड़ी भूल है। 'भक्ति' ईश्वर में, मोक्ष निरुपाधिक चैतन्य में और नीति समाज में वैयक्तिक अतिक्रमण की साधना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान वस्तु-तत्त्व में वैयक्तिक अहंकार के अतिक्रमण की साधना है।" "दर्शन में ज्ञान अपना अतिक्रमण अपनी आत्मोन्मुख गति में ही करता है। ......वह **विषय को उसकी मूलाग्र अवधारणाओं में से, अवधारणाओं को उनकी मूलाग्र चित्तवृत्तियों में से, चित्त को उपाधियों में से और उपाधियों को उनके मूलाग्र निरुपाधिक चैतन्य में से, आविर्भूत होते देखता है।**" (अधोरेखायें मेरी) दार्शनिक चेतना का इस अधोरेखांकित वाक्य में जितना मार्मिक वर्णन किया गया है वैसा संभवतः किसी भी ग्रन्थ या लेख में देखने को न मिले।

इस लेख के अंत में जिन प्रश्नों की चर्चा की गयी है वे विवेच्य विषय की पूर्ण उपेक्षा कर कैसे दार्शनिक गोष्ठियों में विचार चलाया जाता है इस तथ्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। विवेच्य विषय दार्शनिक चेतना की आत्माभिमुख वृत्ति है, चेतना जड़ है या अजड़, इस समस्या का इस विवेचन के साथ दूरान्वय से भी कोई सम्बन्ध नहीं है?

सप्तम अध्याय का विषय 'धर्म-दर्शन,' पहले लेख से चली आयी मुख्य विचार-धारा से कुछ हटा हुआ होते हुए भी वैदान्तिक दार्शनिक दृष्टि के कुछ पहलुओं के स्पष्टीकरण में सहायक ही हुआ है। इस अध्याय के अन्तर्गत विवेचन भी—इसका विषय बहुत कुछ घिसा-पिटा होने पर भी—काफी नावीन्यपूर्ण है। धर्म-दर्शन के विषय को विशद करते हुए शल्यजी कहते हैं कि "जब हम जीवन की आगन्तुकता का, लौकिक उपलब्धियों की निस्सारता का, या लोकोत्तर विराट्ता का अनुभव करते हैं और इस अनुभव को अपनी जीवन-दृष्टि और जगद्-दृष्टि का आधार बनाते हैं, तब हम धार्मिक विषयिभाव में प्रतिष्ठित होते हैं; जब यह भाव अपनी घटना में अनुभूत नहीं होकर अपने स्वरूप में विमृश्य होता है तब इस विषयिभाव के

आत्म-विवेचन का प्रसंग होता है जो धर्म-दर्शन का क्षेत्र है।" लौकिक उपलब्धियों की निस्सारता या वस्तुमात्र की आगन्तुकता के बोध के संबंध में निम्न वाक्यों में जो स्पष्टीकरण दिया गया है वह मननीय है—'जगत् का भाव उसके असद्भाव तथा अन्यथाभाव की संभावनाओं से उतना ही संवलित है जितना इस कुर्सी का। ......मेरी आगन्तुकता इसी से प्रकट नहीं है कि मैं मरूंगा, बल्कि इससे भी प्रकट है कि मैं जो कुछ हूं उससे सर्वथा भिन्न हो सकता था। ....'भूतल पर घटाभाव घटके अन्यत्र भाव का सापेक्ष है और घट-नाश घटाकृति के अन्यथाभाव का, किन्तु मेरी मृत्यु न मेरा अन्यथाभाव है और न अन्यत्र भाव। यह पूर्ण अभाव है, भाव का पूर्ण विराम, निषेध।.........धर्म दर्शन के समान प्रामाण्य का अनुसंधान नहीं है, यह भाव या तत्त्व का साक्षात्कार और उस स्थिति में अपने को बनाये रखने का प्रयत्न अथवा साक्षात्कार का प्रयत्न है। धर्म का आरंभ ही चैतन्य के सब अनुसंधानों की औपाधिकता की अनुभूति से होता है। ....सर्व-शून्यता का......बोध वास्तव में युगपद् रूप से परिपूर्णता, परमार्थता, अमृतत्व और परमैश्वर्य का भी बोध है।"

अष्टम लेख 'मनुष्य, इतिहास तथा समाज-विषयक वेदान्तीय अवधारणा' में वेदान्तीय अवधारणा-भूमिका की असामाजिकता, नीत्यभिमुखीनता का अभाव तथा ऐतिहासिक दृष्टि-विरुद्धता आदि तथाकथित न्यूनताओं की विस्तार से चर्चा कर जिस निष्कर्ष पर पाठक को लाता है वह इस प्रकार है—"शंकर में ...विषयी और विषय अनिवार्यतः सह-सम्बन्धित पदार्थ हैं और... प्रातिभासिक हैं। पाशव चेतना का विषय व्यष्टि-अहंकार की अव्यवहितता में संकुचित रहता है, जबकि मानवीय चेतना का विषय इस अव्यवहितता से प्रत्ययात्मक अतिक्रांतता में निर्मुक्त होकर अपने विषयी को वैयष्टिक अहंकार से सामाजिक सार्वभौमिकता में निर्मुक्त करता है। और यह मुक्ति उस पूर्ण मुक्ति की ओर संकेत करती है जिसमें वैयष्टिक ही नहीं मानुषिक उपाधि भी समर्पित हो जाती है। शंकर में इसी का नाम वैश्विक माया है।"

इस निष्कर्ष से सामान्यतः सहमत होते हुए भी इसकी एक आंशिक न्यूनता का निर्देश शंकर की सर्वंकष, व्यावहारिक सत्य को भी अपने में अन्तर्भावित कर लेने वाली, दार्शनिक दृष्टि के गांभीर्य का आकलन करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। वह न्यूनता प्रत्येक आनुभविक स्तर पर पहुँच कर पूर्वतन स्तर के अतिक्रमण को असाधारण महत्त्व देने में है। प्रत्येक स्तर अपने में स्वयंपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण है। जब इस स्तर का पूर्ण परित्याग अनुभव-परिपाक के फलस्वरूप संभव होता है तभी इसके अतिक्रमण का महत्त्व प्रकट होता है, अन्यथा नहीं।

नवम तथा अन्तिम लेख 'तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा' एक स्वतन्त्र रचना है जो दार्शनिक तुलना के आधारभूत तत्त्वों की विस्तार से चर्चा करता है। सतही साम्य के आधार पर की जाने वाली तुलनायें : जैसे अद्वैत या कांटीय अथवा हेगेलीय दर्शन की : नितान्त भ्रामक हैं, ऐसा जो शल्य जी कहते हैं वह बिल्कुल सही है। उनके विचार में 'तुलनात्मक दर्शन का कार्य अवयवी को छोड़कर अवयव-विशेष की तुलना करना नहीं है, बल्कि उस मूल लक्षण का प्रतिभान पाना है जो अपने को विभिन्न विलक्षणताओं में प्रकट करता है। ......"तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन का कार्य वास्तव में यही है कि वह देखे कि दो संस्कृतियों की दार्शनिक दृष्टियों में आदिम संरचना तथा आदिम अभीप्सा की अभिव्यक्तियां किस

प्रकार भिन्न हो रही हैं। ....इस प्रकार का अध्ययन करने की सर्वोत्तम विधि......यह है कि एक संस्कृति में निष्णात दार्शनिक दूसरी संस्कृति के दार्शनिक के मूल अवधारण, या मूल प्रत्यय के अन्तर्गर्भ में अपने को प्रतिष्ठित कर उसको ग्रहण करे और उस ग्रहण के अन्य आयामों और अन्य संभावनाओं का अवगाहन करने का प्रयत्न करे जिनको मूल दार्शनिक अपने सांस्कृतिक और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों के कारण देख नहीं पाया।"

इस विवेचना में 'आदिम अभीप्सा' तथा 'आदिम संरचना' ये दो नये तथा अर्थपूर्ण पद प्रयुक्त हुए हैं। इनमें प्रत्येक दर्शन के लिए मूलभूत जो दार्शनिक दृष्टि होती है वह एक विशेष प्रकार की अभीप्सा का प्रकट रूप (आर्टीकुलेशन) होती है जिसका उस दर्शन में विस्तार या संरचन किया जाता है, यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह अभीप्सा क्या चीज़ है (जिसे बौद्धों ने 'गोत्र' कहा है, आधुनिक दार्शनिक जिसे कमिटमेंट कहते हैं तथा कुछ विचारक पूर्वाभ्युपगम कहते हैं) यह अधिक स्पष्टता से बतलाना आवश्यक है। किन्तु संरचना को अभीप्सा के समकक्ष रखना उचित नहीं प्रतीत होता। एक ही अभीप्सा के विभिन्न संरचन हो सकते हैं और विभिन्न अभीप्साओं के समान संरचन भी—अभीप्सा-भेद होते हुए भी—दार्शनिक तुलना के कारण हो सकते हैं।

प्रस्तुत समीक्षा का मुख्य लक्ष्य विद्वान लेखक के विचारों का गुणदोषोद्घाटन न होकर उसके द्वारा प्रस्तुत की गयी वेदान्तीय तत्त्वमीमांसा की पुनर्रचना की ओर अभिज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना है। विगत कुछ दशकों में ब्रैड्ले, मैकंटायर जैसे पश्चिमी दार्शनिकों की, अधिकतर पहेलियां बुझाने वाली तत्त्वमीमांसा से ऊबकर परवर्ती विचारकों ने तत्त्वमीमांसा का बहिष्कार ही कर डाला था। किन्तु तार्किक भाववाद, दार्शनिक विश्लेषण, भाषीय विश्लेषण आदि को एक के बाद एक तत्त्वमीमांसा के विस्थापक (सब्स्टीट्यूट) के रूप में पुरस्कृत कर भी विचारकों को संतोष नहीं हो पाया। आज दार्शनिक विचार के क्षेत्र में कुछ रिक्तता आ गयी सी प्रतीत हो रही है। ऐसी स्थिति में 'मनुष्य और जगत्' के लेखों में जिस प्रकार की तत्त्व-मीमांसा उपस्थित की गई है वह दार्शनिक चिन्तन को नई दिशा देने की सामर्थ्य रखती है ऐसा यदि कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। विभिन्न भारतीय-अभारतीय समकालिक-असमकालिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में वेदान्त की पारम्परिक अवधारणाओं की—'आत्म-अनात्म' जैसी—पूर्णतया पुनर्रचना पुस्तकान्तर्गत लेखों में प्रस्तुत की गई है, जो विश्लेषण को ही दर्शन-सर्वस्व समझने वाले विचारकों को भी रोचक लगेगी। अंग्रेज़ी के एक प्रसिद्ध मुहावरे का प्रयोग कर हम कह सकते हैं कि लेखक का यह प्रयास 'पुरानी बोतलों में नयी मदिरा ढालने' जैसा है। भारतीय विचार-परम्परा में अब तक यही किया जाता रहा है—परम्परा को निभाते हुए मौलिकता का सहज सुन्दर आविष्कार करना।

नारायण शास्त्री द्राविड़

लेखक-परिचय

नारायण शास्त्री द्राविड़—नागपुर विश्वविद्यालय में १९८३ में दर्शन के ग्राचार्य-पद से सेवा-निवृत्त होने के पश्चात् हवाई में ग्रतिथि ग्राचार्य; संप्रति भारतीय दार्शनिक ग्रनुसंधान परिषद् के वरिष्ठ फैलो। ग्रनेक लेखों के ग्रतिरिक्त वेदान्त पर एक ग्रंथ प्रकाशित।

राजेन्द्रप्रसाद पांडेय—१९८३ से विश्वभारती, शान्तिनिकेतन में दर्शन के ग्राचार्य, संप्रति रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर में दर्शन के ग्रतिथि ग्राचार्य (फरवरी के ग्रंत तक)। ग्रनेक लेखों के ग्रतिरिक्त निम्न ग्रंथ प्रकाशित (१) प्रॉब्लम ग्रॉफ फैक्ट, (२) फिनॉमिनलॉजी (हिन्दी में) (३) विट्गेंस्टाइन। ट्रैक्टेटस का हिन्दी में ग्रनुवाद।

यशदेव शल्य—राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ ग्रकादमी के उपनिदेशक पद से सेवा-निवृत्त १९८४, ग्रखिल भारतीय दर्शन परिषद् तथा दार्शनिक त्रैमासिक की स्थापना १९५४, परिषद् के मन्त्री–१९५४-७०, ग्रध्यक्ष–१९७४-८०, भारतीय दार्शनिक ग्रनुसंधान परिषद् के वरिष्ठ फैलो–१९८२-८५, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में ग्रतिथि-ग्रध्यापक १९७९-८० (सात मास)। ग्रन्थ—(१) पन्त का काव्य ग्रौर युग, (२) मनस्तत्त्व, (३) दार्शनिक विश्लेषण, (४) ज्ञान ग्रौर सत् (५) संस्कृति : मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या, (६) विषय ग्रौर ग्रात्म, (७) मनुष्य ग्रौर जगत् : वैदान्तिक ग्रनुभव का नवोन्मेष, (८) सत्ता-विषयक ग्रन्वीक्षा (प्रकाश्य)। सम्पादित ग्रन्थ–(१) ग्रनुभववाद, (२) समकालीन दार्शनिक समस्याएं; (३) समकालीन पाश्चात्य दर्शन। पत्रिका-संपादन—(१) दार्शनिक त्रैमासिक–१९५४-५६, १९५८-६८, १९७०-७७; (२) तत्त्व चिन्तन—१९६८-७० ; (३) दर्शन-समीक्षा–१९७१-७४। ग्रनुवाद—राबर्ट रैड्फील्ड-कृत लिटिल कम्यूनिटी, (२) पेज़ेंट सोसाइटी। इसके ग्रतिरिक्त ग्रनेक लेख लिखित ग्रौर ग्रनूदित।

वीरेन्द्र शेखावत—राजस्थान विश्वविद्यालय में उपाचार्य। ग्रन्थ—(१) विज्ञान ग्रौर विज्ञान-दर्शन : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, (२) योग-दर्शन (ग्रंग्रेज़ी), (३) फिलॉसफी ग्राफ टैक्नॉलोजी। ग्रनेक लेख। संप्रति चरक-संहिता ग्रौर गणित ज्योतिष में शोध-रत।

धर्मेन्द्र गोयल—पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ में वर्षों से दर्शन के ग्राचार्य। ग्रनेक लेखों के ग्रतिरिक्त फिलॉसफी ग्राफ हिस्ट्री पुस्तक का लेखन तथा पिटिरिम सोरोकिन की पुस्तक सोश्यल फिलासफीज़ इन एन एज ग्राफ क्राइसिस का हिन्दी में ग्रनुवाद।

दयाकृष्ण—राजस्थान विश्वविद्यालय में १९६३ से १९८५ तक दर्शन के ग्राचार्य। ग्रनेक लेखों के ग्रतिरिक्त निम्न ग्रन्थ प्रकाशित (१) दि नेचर ग्राफ फिलासफी, (२) प्लानिंग,

पावर एण्ड वेल-फेयर ; (३) सम कंसिडरेशंस् टूवाड्‌र्स दि थ्योरी ऑफ सोश्यल चेंज ; (४) पुलिटिकल डवलप्मेंट ; (५) सोश्यल फिलासफी : पास्ट एण्ड फ्यूचर : (६) ज्ञान-मीमांसा ।

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१८	विषयीकरण	विषदीकरण
५	२१	सामानान्तर	समानान्तर
७–१५	तीन-चार स्थानों पर	अतिक्राम्यिता	अतिक्राम्यता
१८	३५	यच्छोत्रेण	यच्छ्रोत्रेण
२१	१३	अपनी अखंड	: अपनी अखंड
२२	२	नैमूल्य	मूल्य
२४	२७–२८	विषयरूपेण	विषयिरूपेण
३०	२	अवस्वा	अवस्था
३५	६	हिन्दू-स्वराज	हिन्द-स्वराज
४८	२४	सांम्यं	साम्यं
४६	७	गाहरी	गहरी
६१	२८	ऐसा न मानने	ऐसा मानने
६७	२३	वे भौतिक वस्तुएं तो हैं और जो इस प्रकार	वे भौतिक वस्तुएं, जो इस प्रकार
६६	१४	असीम अविभाज्यता	असीम विभाज्यता
७१	१३	मानते/ऐसा	मानते; ऐसा

विषय–सूची

कुछ निवेदन		१
अभाव-संप्रत्यय की दार्शनिक संभावनाएं	**नारायण शास्त्री द्राविड़**	३
धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि	**राजेन्द्रप्रसाद पांडेय**	६
मूल्य : विषय-सत्ता	**यशदेव शल्य**	१६
संस्कृति और मानव-इतिहास : भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में कुछ समस्याएं	**वीरेन्द्र शेखावत**	२८
प्रतिक्रियाएं		
प्रतिक्रियाएं	**संपादक**	३४
उन्मीलन के प्रवेशांक के संपादकीय पर एक प्रतिक्रिया	**धर्मेन्द्र गोयल**	४०
प्रोफेसर गोयल के आक्षेपों के उत्तर	**संपादक**	४२
तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन, कुछ समस्याएं	**दयाकृष्ण**	४६
सांख्य-वेदान्त वाद-विवाद के सम्बन्ध में कुछ विचार	**नारायण शास्त्री द्राविड़**	५१
पुस्तक-समीक्षा		
एस. एस. बार्लिंगे-बिलीफ्स, रीज़ंस् एंड रिफ्लेक्शंस्	**यशदेव शल्य**	५९
यशदेव शल्य—मनुष्य और जगत् : वेदांतिक अनुभव का नवोन्मेष	**नारायण शास्त्री द्राविड़**	७६
लेखक परिचय		८३
शुद्धि-पत्र		८४

यशदेव शल्य द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान पी-५१, मधुबन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर की ओर से जेक प्रिन्टर्स, पी-४७, मधुबन पश्चिम, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर से मुद्रित एवं प्रकाशित